पराविद्या

प्रवचन

महामण्डलेश्वर

स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट, दिल्ली

द्वारा निःशुल्क वितरणार्थ प्रकाशित

१९९२

प्रथम प्रवचन

(२१ नवम्बर, १९८८)

चार वेद हैं— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। चारों ही वेदों के मंत्र और ब्राह्मण भाग हैं। कुछ उपनिषदें मंत्र भाग में आती हैं। कुछ उपनिषदें ब्राह्मण भाग में आती हैं। मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेद के मन्त्र भाग की उपनिषद् है। इस विचित्र जगत् में कोई चीज ऐसी नहीं जो अनेक टुकड़ों में, कलाओं में, विभाजित न हो सके। सभी चीजें पंचमहाभूतों से बनी हैं। आगे पंचमहाभूत स्वयं पंचीकृत हैं। आधुनिक दृष्टि से देखते हैं तो सभी पदार्थ अणुओं से बने हैं। स्वयं परमाणु भी ऋणाणु धनाणु इत्यादियों के योगों से बने हैं। इस प्रकार से संसार को जब देखते हैं तो इसके अन्दर अनेक कलायें हैं। विश्वात्म-दृष्टि से देखने पर यह समस्त संसार त्रिकल है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इन तीन कलाओं में सब चीजों को बाँटा जा सकता है। विश्वदृष्टि से यह अनेककल है व विश्वात्म दृष्टि से त्रिकल। उसी को जब विश्वातीत दृष्टि से देखते हैं तो वह निष्कल है। अधिष्ठान सच्चिदानंद नित्य है। उसके अन्दर किसी प्रकार का टुकड़ा बना नहीं है, सर्वतः पूर्ण है। टुकड़ों के मिलने से उसकी पूर्णता नहीं। वह स्वरूप से पूर्ण है। ऐसा वह सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा जीव का अन्तःस्वरूप है। इसलिये उस जीव के अन्दर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ये चीजें घटती हैं। जीव अपने को विश्वदृष्टि से देखता है तो मैं करता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सोचने वाला हूँ, मैं निश्चय करने वाला हूँ, मैं देखने वाला हूँ, मैं सुनने वाला हूँ, मैं चखने वाला हूँ, मैं चलने वाला हूँ— इस प्रकार अपने आपको विश्वदृष्टि से अनेककल देखता है। इसी को जब विश्वात्मदृष्टि से देखता है तो जीव, जगत् और ईश्वर रूप से वह अपने आपको त्रिकल देखता है।

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा।"

अपने को भोक्ता रूप से देखता है, जगत् को भोग्य रूप से देखता है और ईश्वर को भोग देने वाले रूप में देखता है। संसार के पदार्थ भोग्य हैं परन्तु किस काल में कौन सा भोग किस भोक्ता को प्राप्त होगा इसकी जो व्यवस्था करने वाला है वह ईश्वर है। जीव, जगत्, ईश्वर रूप से बँटना ही यह सारा संसाररूप खेल है। और जब अपने आपको विश्वातीतदृष्टि से देखता है तब इन सब उपाधियों से रहित जो अपना निष्कल सच्चिदानंद रूप है उसको देखता है। परन्तु अविद्या

के कारण, अज्ञान के कारण, इसको क्लेशों की प्राप्ति हो जाती है जिससे शरीर के अन्दर बँधा हुआ अहम् भाव रहता है। अज्ञान के कारण यह न अपने अधिष्ठान निष्कल सच्चिदानंद रूप को देखता है, न अपने जीव, जगत्, ईश्वर— इस त्रिकल रूप को देखता है, न अपने उस चेतन रूप को देखता है जो द्रष्टा, वक्ता, विज्ञाता आदि रूप धारण करता है। वरन् अपने को केवल साढ़े तीन हाथ के मांस के पुतले के साथ ही समझता है।

विचित्र अविद्या का यह खेल है। अगर किसी से पूछो 'पचास साल पहले तुम इस शरीर के साथ सम्बन्धित थे?' तो जवाब देगा 'नहीं'। फिर पूछो 'पचास साल के बाद इस शरीर के साथ सम्बन्ध वाले रहोगे?' तो जवाब देगा 'नहीं'। सौ साल मात्र के लिये इस शरीर के साथ सम्बन्ध है। इसके लिये, वेदान्त सुनने की जरूरत नहीं है। हर एक बात को जानता है कि अनादिकाल से पचास साल पहले तक इस शरीर से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। यह भी जानता है कि पचास साल के बाद अनन्त काल तक इस शरीर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा और यह जानने के बाद अज्ञान का ऐसा प्रताप है कि सारे व्यवहार यह मान कर करता है कि यह शरीर मैं हूँ। इस शरीर के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं हूँ, यह शरीर ही मैं हूँ। यह है अविद्या की महिमा। अविद्या ऐसी है कि विचार करके इसको सिद्ध नहीं कर सकते, बिना विचारे स्वतः सिद्ध है। ऐसा नहीं कि सोचकर तुमने निर्णय किया हो, बिना विचारे ही यह स्थित है। इस अविद्या के कारण क्या होता है? शरीर के अन्दर अपने आपको बाँध लेने का नतीजा क्या होता है? राग। उसका नतीजा होता है शरीर और शरीर सम्बन्धियों के साथ 'यह ही मेरे हैं' इस प्रकार का राग। फलतः उनके लिये ही सारी प्रवृत्तियाँ करने लगता है।

सबेरे से शाम तक किसके बारे में सोचते हो? चाहे पत्नी के बारे में सोचो, पुत्र के बारे में सोचो, पिता के बारे में सोचो, माता के बारे में सोचो, भाई के बारे में सोचो, घर के बारे में सोचो, व्यापार के बारे में सोचो। जो कुछ भी तुम सोच रहे हो वह किससे सम्बन्धित है? इस शरीर से। शरीर से जो सम्बन्ध वाला नहीं उसके बारे में कितनी देर सोचते हो? रोज अखबार में बाँचते हो आज अमुक जगह पर बीस आदसी मारे गये, आज अमुक जगह पर पन्द्रह आदमी मारे गये, आज हवाई जहाज गिर गया— एक सौ बीस आदमी मारे

गये। आगे कुछ इसके बारे में सोचना चलता है? परन्तु यदि उसी हवाई जहाज में गिरने वाला अपना बेटा होवे तो? सारे दिन उसको सोचते रहोगे, साल भर तक सोचते रहोगे। क्यों? उसका तुम्हारे शरीर से सम्बन्ध है। इसी का नाम राग है। और इस शरीर का यदि किसी ने किसी भी कारण से अनुपकार कर दिया, नुकसान कर दिया, तो रात दिन उसी के बारे में सोचते रहोगे। इसने मेरा कितना बड़ा नुकसान कर दिया। फिर जो अपनी मान्यताएँ हैं, जो कुछ भी तुमने मान रखा है, उसके बारे में जबरदस्त आग्रह है, अभिनिवेश है। मैं कभी न मरूँ रात-दिन इसके लिये प्रयत्न करते हैं। यह जानते हुए कि मुझे अवश्य मरना है। सब जानते हैं मरना अवश्यंभावी है फिर भी दृढ आग्रह है। यहाँ इलाज नहीं मिला तो बंबई चलो, बंबई इलाज नहीं मिला तो लंदन चलो, न्यूयार्क चलो। किसी तरह मैं न मरूँ। इसी प्रकार से अपनी जितनी मान्यताएँ हैं सब के बारे में हम दृढ अभिनिवेश वाले हैं। आग्रह वाले हैं। सारे क्लेश, दुःख, बस इसी में आ गये। "अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश" ये ही पाँच क्लेश हैं। अज्ञान के कारण शरीर में आस्था, उसी के कारण शरीर से सम्बन्धियों में राग, शरीर के प्रति नुकसान करने वालों से द्वेष और इस शरीर के प्रति हमेशा बने रहने का आग्रह— इन पंच क्लेशों से युक्त हुआ जीव निरन्तर कुछ न कुछ करता ही रहता है। एक क्षण ऐसा नहीं जब यह कुछ न कुछ काम करता न हो। निरन्तर कुछ न कुछ करते रहने में प्रवृत्त बना रहता है। और इस कर्म के द्वारा जो फल होते हैं उन फलों को भोगता रहता है। उसी भोग के लिये पुनः-पुनः इस संसार चक्र में चलता रहता है। अविद्या से लेकर के संसार बंधन में घूमना यह सारी की सारी अपराविद्या है। जब मनुष्य इससे थक जाता है इसकी उसको अभिलाषा नहीं रहती तब वह विद्या को चाहता है। वह जो विद्या है वह है पराविद्या। उसी का इस मुण्डकोपनिषद् में वर्णन किया है। कथानक से प्रारम्भ करते हैं—

"ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता
स ब्रह्मविद्यां सर्वाविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।"

ब्रह्मविद्या पराविद्या क्यों है? क्योंकि "सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्" सारी विद्याएँ इसी में स्थित हैं। इसीलिये इसका उपदेश करने वाला कोई सामान्य व्यक्ति नहीं

हो सकता। "देवानां प्रथमः सम्बभूव" सारे देवताओं में सबसे पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुए जो "विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता" सारे संसार को बनाने वाले और सारे संसार की रक्षा करने वाले हैं। उन्होंने अपने "ज्येष्ठपुत्राय अथर्वाय" जो सबसे बड़ा लड़का अथर्वा था उसको इस ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।

यह पराविद्या वर्तमान काल में अत्यन्त दुःसाध्य हो गई है। पहले किसी काल में इस विद्या की चरम सीमा को प्राप्त किया था भारतवर्ष के लोगों ने। यहाँ के लोग इस पराविद्या में ही रुचि वाले थे। क्योंकि उन्होंने इस बात को समझ लिया था कि अपराविद्या से जो प्राप्त किया जाता है वह कभी हमारा होता नहीं। जिस प्रकार से गोद लिया हुआ लड़का कभी अपना होता नहीं। उसके अन्दर का भाव हमेशा अपने माता-पिता की तरफ रहेगा। इसी प्रकार से ब्रह्मविद्या आत्मस्वरूप है। उसके सिवाय जितने अनात्म पदार्थ हैं, जितने अपराविद्या के विषय हैं वे कभी अपने होते नहीं। उनका स्वभाव ही अपना होना नहीं। जब अपने हाथ में नोट आवे तो विचार करो किसी दूसरे का वह नोट था और अब तुम्हारे हाथ में आया है। इसका मतलब है उसका स्वभाव है खिसक कर चले जाना। तो यदि दूसरे की जेब से चलकर तुम्हारी जेब में आया है तो तुम्हारी जेब से निकल कर दूसरे की जेब में जायेगा ही। इसका ऐसा स्वभाव ही है। वह तुम्हारा कभी हो नहीं सकता। इसी प्रकार संसार के जितने पदार्थ हैं, विचार कर देखो, अन्यत्र से आये हैं और अन्यत्र जायेंगे। इसलिये वे तुम्हारे कभी नहीं हो सकते।

प्राचीन काल में भारत के लोग इस बात को जानते थे क्योंकि ब्रह्मा जी ने भारत के लोगों को यह उपदेश दिया था— "उत्तिष्ठध्वं जागृद्ध्वमग्निमिच्छद्ध्वं भारताः।" हे भारत के रहने वाले लोगों! हमेशा खड़े रहो। "उत्तिष्ठध्वम्"। पड़े मत रहो। आजकल हम लोग रात-दिन सोचते हैं "पड़े कैसे रहें?" बाप सोचता है मैं इतना कमा जाऊँ कि मेरे लड़के पोते पड़े खायें। खड़े खावें नहीं, पड़े खावें। सबेरे उठ कर के सर्वप्रथम चाय पीते हैं बेड टी। पड़े हुए चाय पीते हैं। पहले जिन घरों के अन्दर चौके में बैठकर खाते थे उन्हीं घरों में अपने-अपने सोने वाले कमरों में थाली मँगाकर लोग खाते हैं। वहाँ भी पड़े खाओ। परन्तु ब्रह्मा जी कहते हैं "उत्तिष्ठध्वम्"। अरे खड़े काम करो। हर चीज में खड़े रहो। "जागृद्ध्वम्" जगे रहो। आजकल तरह-तरह के उपाय करते हैं सोने के।

वेद कहता है "जागृद्ध्वम्" अरे जागो। दुनिया भर के पदार्थों की लोग इच्छा करते हैं। वेद कहता है— एक परमात्मा की इच्छा करो। इस प्रकार पराविद्या के अन्दर चरम सीमा को प्राप्त किया हुआ जो भारत वर्ष है वही आज उस परा-विद्या के विषय में भ्रान्त हो रहा है। निर्भ्रान्त शास्त्रों को असाम्प्रदायिकों ने संशय का अड्डा बना रखा है। नतीजा क्या ? लोग कहते हैं 'शास्त्रों के रहस्य का पता ही नहीं लगता। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है।' ये भ्रांतियाँ शास्त्रों में नहीं हैं। शास्त्रों के अध्ययन नहीं करने के कारण ही भ्रान्तियाँ हैं। क्योंकि आज हर एक व्यक्ति कहता है मुझे सार बता दो इसलिये उसे मूल का ठीक-ठीक पता ही नहीं लग पाता।

मोटी भाषा में समझ लो : अगर नौकर तुमको नारंगी छील कर देता है तो तुम्हे नारंगी ही मिलेगी, अनार छील कर देता है तो अनार खाओगे, सेव छील कर देता है, सेव ही खाओगे। परन्तु यदि रस निकाल कर देता है तो कितनी नारंगी है, कितना पानी, पता लगाने का कोई तरीका है ? एक हमारे बड़े अच्छे व्यापारी हैं। नाम नहीं बतायेंगे। उन्होंने सेवों के रस का उद्योग खोल रखा है। वे सेवों का रस बनाकर, एपल जूस बना कर बेचते हैं। एक बार हमसे बात हो रही थी। हमने कहा 'अरे तुम्हारा सेवों का जूस एक दिन हम भी पियें।' कहने लगे 'महाराज ! आप के पीने लायक नहीं है।' हमने कहा 'क्यों भाई ? बड़ी तारीफ सुनी है' उन्होंने कहा 'सेव का रस तो उसमें नाम निशान को होता है। सेवों का एक इत्र (एसेंस) आता है वह डालकर पानी में गैस भर कर बेचना पड़ता है। नहीं तो थोड़े ही पोंसायेगा, करोड़ों रुपये थोड़े ही कमायेंगे ?' इस-लिये जब सेवों का रस पीते हो तो क्या पी रहे हो, नहीं कह सकते।

एक बार समाचार पत्रों में आया था कि टमाटर केचप बनाने वालों पर इनकम टैक्स वालों ने रेड किया। उनके हिसाब-किताब देखे तो सबसे ज्यादा वे खरीदते थे काशीफल, कुम्हड़ा। टमाटर उनके यहाँ बहुत कम आता था। तो इनकम टैक्स वालों ने पूछा 'यह तुम्हारे यहाँ काहे के लिये आता है, क्या काम करते हो ?' वे बोले 'इससे टोमैटो केचप बनाते हैं। पूरे टमाटर डालेंगे तो थोड़े ही लाभ कमा पायेंगे।' यह पता चलने के बाद सरकार के खाद्य विभाग ने कानून बनाया कि कम से कम इतना(निश्चित मात्रा) टमाटर तो जरूर डालना चाहिये। यदि तुम टमाटर खरीदोगे तब तो तुमको टमाटर ही मिल सकता है

उसमें तो कोई दूसरी चीज मिला नहीं सकता। नारंगी खरीदोगे तो नारंगी ही मिलेगी, सेव खरीदोगे तो सेव ही मिलेगा। इसी तरह यदि तुम कहोगे हमको गीता का सार पिला दो, गीता का सार बता दो, तो तुमको क्या माल मिलेगा उसका कोई ठिकाना नहीं है। उसमें केवल गीता की गंध मात्र होगी। पूछा हुआ, पूर्वपक्ष में कहा हुआ श्लोक तुम्हारे हाथ लग जायेगा और तुम समझोगे यही गीता है।

यद्यपि शास्त्र निर्भ्रान्त हैं तथापि असांप्रदायिक सार के नाम से भ्रांति की चीज बतलातें है और उसके कारण लोग भ्रांत हो जाते हैं और सोचते हैं शास्त्रों में विरुद्ध बात कही होगी। इसलिये जो वेद संदेह-निवर्तक हैं वे संदेह-प्रवर्तक मान लिये जाते हैं। जिस पराविद्या के अन्दर भारत के लोग इतनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचे थे वही पराविद्या आज भारत में ही इस स्थिति में पहुँच गई है क्योंकि वेद का प्रचार चारों तरफ अवरुद्ध है। पहले तो संस्कृत विद्या कोई पढ़ता नहीं। यदि पढ़ने में प्रवृत्त हुआ तो व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद बस इसी के अन्दर संस्कृत पढ़ा हुआ व्यक्ति सीमित हो जाता है। वेद के अध्ययन को प्राप्त करता नहीं, वेद का स्पर्श भी करता नहीं। और इसीलिये इस पतन को प्राप्त करता है। इस पराविद्या का आधार वेद ही है। ब्रह्मविद्या को उत्पन्न करने वाला वेद ही है यह महर्षि लोगों का स्पष्ट उद्घोष है। जिस समय में जनक की सभा में शाकल्य ने अनेक प्रश्न किये याज्ञवल्क्य से, याज्ञ-वल्क्य उनका जवाब देते रहे। अन्त में उन्होंने कहा 'तूने मुझ से सैकड़ों प्रश्न पूछे। मैं तो तेरे से केवल एक प्रश्न पूछता हूँ।' 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।' उपनिषदों ने जिस परम पुरुष का प्रतिपादन किया है बस वह बता दे। उसको तू जानता है कि नहीं? भगवान् भी यही कहते हैं।

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः॥"

सारे वेदों के अन्दर एकमात्र उस परमात्मा का ही प्रतिपादन है, और किसी का नहीं। पराविद्या ही वेद के द्वारा प्रतिपादित है और वेद के द्वारा यही प्रति-पादित है और कुछ अन्य चीज प्रतिपादित है नहीं। इस पराविद्या की प्राप्ति के साधन भी वेद में बतलाये हैं। अतः या पराविद्या के साधनों को बतलाया है या पराविद्या को साक्षात् बतलाया है।

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव ।" कथा को प्रारंभ करते हुए मुण्डक उपनिषद् कहती है कि देवताओं में सर्वप्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इन्द्रियों को शास्त्रों में देवता कहा है। देवता का मतलब है जो किसी चीज का प्रकाश दे, किसी चीज का ज्ञान दे। आँख रूप का ज्ञान देती है। कान शब्द का ज्ञान देता है, नासिका गन्ध का ज्ञान देती है, इस प्रकार से जितनी अपनी इन्द्रियाँ हैं वे सब हमको कोई न कोई ज्ञान देती हैं, किसी न किसी का प्रकाश करने वाली हैं। ज्ञान देने वाली होने से इन्द्रियों को देव कहा जाता है। परन्तु इन सब देवताओं में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला है अन्तःकरण, मन।

आचार्य शंकर कहते हैं यद्यपि बहुत सी चीजें पैदा होती हैं मनुष्य के बंधन को करने वाली, तथापि उनमें अहंकार मुख्य है।

"सन्त्यन्ये प्रतिबंधाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः।
तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः ॥"

यद्यपि संसार के अन्दर बाँधने वाले कारण राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि अनेक हैं, दुनिया भर के पदार्थों की आसक्तियाँ बंधन में डालती हैं, अतः सभी प्रतिबंधन हैं, तथापि इन सब का जो मूल, जिसके आने पर ये सब बंधन में डालते हैं, वह है अहंकार। अहंकार आयेगा तब ये रागद्वेषादि सब प्रवृत्त होंगे। बिना अहंकार के आने से कोई प्रवृत्त होगा नहीं। अहंकार अन्तःकरण की ही वृत्ति-विशेष है। अन्तःकरण ज्ञान का भी मूल कारण है और अन्तःकरण ही अज्ञान का भी मूल कारण है।पराविद्या के द्वारा ज्ञान प्राप्त होगा किस चीज का? मैं का, अहंकार का। यह अहंकार क्या है? इसे पराविद्या बतायेगी। यह ब्रह्म है। अहंकार अपने में कुछ नहीं है, केवल ब्रह्मस्वरूप है और जब तक पराविद्या की प्राप्ति नहीं होती तब तक सारे बंधनों का कारण भी यह अहंकार ही है। इसलिये बंधन मोक्ष दोनों का कारण यह अहंकार ही है। अज्ञान में किया हुआ यह अहं ही बद्ध है, ज्ञान को प्राप्त किया हुआ अहं ही मुक्त है क्योंकि अहं के अन्दर अपना सच्चा रूप भी है और अपना कल्पित रूप भी है। जिस प्रकार से ऊन से तुम स्वेटर बनाते हो और स्वेटर के अन्दर कई रंग मिला कर कहीं बतासे बना देते हो, कहीं शक्करपारे बना देते हो। वहाँ सारे स्वेटर के अन्दर ऊन ही ऊन है, उसके अन्दर ही शक्करपारे, बतासे भी बने हुए हैं। सच्ची चीज क्या

है ? ऊन है । कल्पित चीज क्या है ? बतासे, शक्करपारे इत्यादि । ऐसा नहीं कि वहाँ दो वस्तुएँ हैं । एक ही है । इसी प्रकार इस अहं की वास्तविकता क्या है ? चेतनता के सिवाय कुछ नहीं है और इसी के अन्दर श्रोता, वक्ता, द्रष्टा इत्यादि कल्पित रूप अनन्त हैं । देखने वाला कौन है, द्रष्टा कौन है ? चेतन । सुनने वाला कौन है ? चेतन । चलने वाला कौन है ? चेतन है । वास्तविक दृष्टि से देखो तो द्रष्टा, श्रोता, विज्ञाता एक चेतन ही है । परन्तु इन भिन्न-भिन्न रूपों में देखने के कारण भ्रम में पड़ कर हम समझते हैं यह अनेककल है, अनेक रूपों वाला है ।

शास्त्र में बतलाया गया है— ब्रह्मा जी जब पहले पहल सृष्टि करने लगे तो ब्रह्मा जी में सत्त्वगुण की प्रधानता थी । जो पिता के अन्दर गुण होगा वही संतति में आयेगा । इसीलिये प्राचीन लोग पुत्र उत्पन्न करने के लिये बड़ी सावधानी बरतते थे । हमारे यहाँ कामना के वशीभूत होकर पुत्र को नहीं उत्पन्न किया जाता । सन्तान भी दो प्रकार की होती है, कामज और धर्मज । धर्म की दृष्टि से जब संतति को उत्पन्न करते हैं तो वह धर्मज है और मन में कामना को उत्पन्न करके जब संतति को उत्पन्न करते हैं तो कामज है । जो काम से जन्य संतति होगी वह कामरूपी बीज से उत्पन्न होने के कारण काम की तरफ ही दौड़ेगी । प्राचीन काल में चूँकि धर्मज संतति प्रधान रूप से उत्पन्न करते थे इसलिये संतति के मन में प्रश्न यह होता था 'मेरा कर्तव्य क्या है ?' हर एक पूछता था 'मुझे क्या करना चाहिये ?' आज कामज संतति द्वारा प्रश्न यह नहीं होता है कि हमको क्या करना चाहिये । उनका प्रश्न होता है 'क्या करने से हमको मजा आयेगा ?' ब्रह्मा जी उस समय में पूर्ण सत्त्वगुण में थे । इसलिये जो संतति उत्पन्न हुई वह सत्त्वगुण वाली थी ।

ब्रह्मा जी ने उससे कहा 'सृष्टि को बढ़ाओ ।' उन्होंने कहा 'सृष्टि को बढ़ायेंगे तो सिवाय दुःख के क्या होना है । जितनी सृष्टि बढ़ेगी उतनी दुःख को ही बढ़ायेगी । इसलिये उत्तम तो यही है कि आप भी भजन करें और हम भी भजन करें ।' ब्रह्मा जी को क्रोध आ गया क्योंकि वे तो सृष्टि को उत्पन्न करने के लिये ही प्रवृत्त हुए थे । क्रोध आने से उनमें रजोगुण उत्पन्न हो गया । रजोगुण उत्पन्न होने से उन्होंने मरीचि इत्यादि की सृष्टि की । उन से जब कहा 'प्रजाएँ उत्पन्न करो' तो चूँकि वे रजोगुणी संतति थी, उन्होंने कहा 'हाँ जी ।' वह जो पहले वाली सत्त्वगुणी सृष्टि उत्पन्न हुई थी उसको ही यहाँ कहा— 'ज्येष्ठपुत्राय' ।

जो ज्येष्ठ पुत्र था, जेठा लड़का, पहले पैदा हुआ था वह सत्त्वगुण वाला था। इसलिए उसका नाम ही था अथर्व। थर्व कहते हैं कुटिलता को। अर्थव का मतलब है अकुटिल, जिसके अन्दर कुटिलता नहीं है। पराविद्या की प्राप्ति उसी को होती है जो कुटिल नहीं होता। अन्यत्र यजुर्वेद में कहा है "न येषु जिह्ममनृतं न माया"। अकुटिलता जिसके जीवन में है वही ज्ञान पाता है। जैसा मन में वैसा ही बाहर— यह है अकुटिलता। यह सत्त्वगुण का भाव है। जहाँ रजोगुण होगा वहाँ मन में कुछ, वाणी में कुछ, करने में कुछ और होगा। जिनके अपने अन्दर इतना भेद होगा वे सामने वाला जो व्यवहार करेगा उसमें भी मत-लब लगाते रहेंगे। कई बार कोई व्यक्ति कहता है 'अमुक काम ऐसे करेंगे'। हम कहते हैं 'ठीक है भाई करना ही है।' जो दूसरे संसारी बैठे होते हैं वे कहते हैं 'महाराज यह कहता है ! करेगा नहीं।' जो खुद भी कह कर नहीं करते होंगे वे ही दूसरे को देख कर सोचते हैं कि वह भी कहेगा और करेगा नहीं। हम कहते हैं 'भाई, कह रहा है तो तुम क्यों संदेह करते हो ?' कहते हैं 'जी पहले कई बार इसने कहा है और नहीं किया।' 'अरे बदल गया होगा।' लेकिन जो अपने में कुटिलता है वह किसी दूसरे को सरल रूप से देखने नहीं देती। इस कुटिलता भाव वाले को जब पराविद्या का उपदेश भी दिया जायेगा तो वह अपनी कुटिलता से उसमें भी मतलब ढूँढेगा। सीधी सादी बात जो वेद कहता है वह उसे जँचेगी नहीं। तरह-तरह से उसके मतलब निकालेगा। इसलिये कहा 'ज्येष्ठ पुत्र' जो सत्त्वगुण प्रधान हो। और कैसा हो ? अथर्व या अकुटिल। सारी विद्याओं की प्रतिष्ठा रूप जो ब्रह्म विद्या है वह ब्रह्मा जी ने उसे बतायी। आगे इसकी परंपरा कैसे चली ? इस पर कल विचार करेंगे।

द्वितीय प्रवचन

(२२ नवम्बर १९८८)

पराविद्या का प्रतिपादन करने वाली मुण्डक उपनिषद् का विचार प्रारम्भ किया था। कल बतलाया कि किस प्रकार से सारे देवताओं में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले समग्र विश्व के कर्ता और उसका पालन करने वाले ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या दी। विद्या के सम्प्रदाय की परम्परा बतलाना विद्या की स्तुति के लिए है। इस प्रकार के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लोगों ने सृष्टि के आदि काल में परम पुरुषार्थ के, मोक्ष के साधन रूप से इस विद्या को ग्रहण किया। इस बात को जान कर सभी साधक इसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होवें, यह स्तुति का प्रयोजन है।

यही भगवान् भाष्यकार ने कहा हैं 'स्तुत्या प्ररोचितायां हि विद्यायां सादराः प्रवृत्तेयुः।' स्तुति के द्वारा मनुष्य को किसी भी कार्य के लिए प्ररोचन होता है। प्रवृत्ति तभी की जा सकती है जब मनुष्य की किसी चीज में रुचि हो। जिस चीज में रुचि नहीं होगी उस कार्य में यदि मनुष्य जबरदस्ती प्रवृत्त भी हो जायेगा तो वह प्रवृत्ति टिकी नहीं रहेगी। ब्रह्मविद्या के लिए प्रवृत्ति निरन्तर नित्य होवे इस-लिये उस में रुचि होनी चाहिये। नित्य अर्थात् प्रति दिन। कई चीजों में मनुष्य प्रवृत्त होता हैं, कुछ दिनों तक प्रवृत्ति करता है और फिर छोड़ देता है। आत्मज्ञान के विषय में यह और भी सत्य है। थोडे समय के लिये प्रवृत्त होकर, कुछ दिनों के लिए प्रवृत्त होकर, उसकी प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है। कारण है कि हम लोगों को विषयसुख का अभ्यास पड़ा हुआ है। इसलिये जब कोई विषय सामने आता है तब तो हमारी प्रवृत्ति बनी रहती है और जब निर्विषय स्थिति आती है, जब विषय सामने नहीं रहता, तब हमारी प्रवृत्ति कुंठित हो जाती है। जिस प्रकार से छोटे बच्चे को यदि किसी भी चीज के पुरस्कार के रूप में तुम उसको कुछ खाने की चीज दो, चाकलेट दे दो, शहद दे दो, कुछ भी खाने की चीज दे दो, तब तो बच्चे की प्रवृत्ति रहती है पर यदि कोई और चीज उससे बहुत ज्यादा कीमती भी दे दो तो बच्चे की प्रवृत्ति नहीं रहती। छह महीनें का बच्चा होवे, उसके हाथ में तुम लालीपाप दे दो, कोई चीज खाने की दे दो। उसको उठा कर मुँह में ले

जायगा। अगर वह बढ़िया मीठी चीज है तो प्रसन्न होता है और तुम्हारी तरफ खुश होकर देखता है। अगली बार जब पुनः तुमको देखता है तो उसकी आँखे विस्फारित हो जाती है और फिर सोचता है 'यह वही चीज देगा'। अब रुपये दो रुपये के लालीपाप, शहद अथवा कोई मीठी चीज की अपेक्षा तुम उसको सौ रुपये का नोट पकड़ा दो। वह तो एक ही चीज जानता है। छोटे बच्चे को नोट भी पकड़ाओंगे तो क्या करेगा? मुँह में डालेगा अब मुँह में डालने पर उस सौ रूपये के नोट का कोई स्वाद तो आयेगा नहीं। थोड़ी देर इधर-उधर करके वह नोट को छोड़ देगा। अब न तुम्हारी तरफ उसका कोई आकर्षण होगा, न अगली बार तुम उसको कोई चीज दोगे तो वह लपक कर लेगा क्योंकि जो पदार्थ तुमने दिया वह उसका विषय नहीं है। इसी प्रकार हम लोगों को अभ्यास पड़ा हुआ है रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श वाले किसी न किसी विषय को पकड़ने का। वह विषय सामने आता है तो हमारी बाछें खिल जाती हैं, हम प्रसन्न हो जाते हैं। परन्तु जब निर्विषय हमारे सामने आता है तो उसके मूल्य को हम नहीं समझ सकते। इसीलिये वह परमेश्वर हमारे सामने अखण्ड होते हुए भी खण्डित रूप वाला प्रकट होता है।

कल बतलाया था अनेककल वाला विश्व रूप, त्रिकल वाला विश्वात्मरूप और निष्कल वास्तविक रूप, परमार्थ रूप। यद्यपि परमेश्वर स्वरूप से अखण्ड है और हमको अखण्ड ज्ञान ही देना चाहता है, परन्तु फिर भी अपना खंडित रूप प्रकट करता है, त्रिकल रूप प्रकट करता है। इसीलिये किसी ने कहा है—

"वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः
शिखण्डे खण्डेन्दुः स्वयमपि विभुः खण्डपरशुः।"

'शैलेन्द्रदुहितुः खण्डः वपुःखण्डे प्रतिवसति' भगवान शंकर के आधे अंग में शैल अर्थात् हिमालय पर्वत, उसकी दुहिता पार्वती है। दाहिना अंग शिव का है, बायाँ अंग पार्वती का है। 'वपुःखण्डे', शरीर के एक खण्ड में "शैलेन्द्रदुहितुः खण्डः प्रतिवसति" पार्वती का एक खण्ड रहता है। यह भी कल वाला है, खण्डवाला है। "शिखण्डे खण्डेन्दुः" भगवान शंकर का जो सिर है उसके ऊपर द्वितीया का चन्द्रमा रहता है, वह भी "खण्डेन्दुः" चन्द्रमा का टुकड़ा है, द्वितीया का चन्द्रमा है। तो आधे अंग में भी कल, खण्ड, और सिर पर भी खण्ड।"स्वयमपि विभुः

खण्डपरशुः" और स्वयं भगवान् शंकर अपने हाथ में जो फरसा रखते हैं वह भी खण्डित है, टुकड़ा टूटा हुआ है उसका। इस प्रकार से तीन खण्ड हो गये। शरीर के आधे भाग में पार्वती का खण्ड, सिर के ऊपर चन्द्रमा का खण्ड और स्वयं अपने हाथ में खण्डपरशु यानि टूटा हुआ फरसा। अब यद्यपि ये सब खंड हैं—

"तथापि प्रत्यग्रं शरणमुपयातं प्रति विभो-

रखण्डो व्यापारो जगति करुणायाः विजयते।"

"तथापि प्रत्यंग्रं शरणमुपयातं" यद्यपि त्रिकल रूप को धारण किए हुए हैं, तीन जगह से खण्ड को धारण किये हुए हैं, तथापि जो उनके सामने शरण भाव को प्राप्त कर होता है, उनकी करुणा ऐसी है कि वे उसे अखंड अर्थात् निष्कल ज्ञान का दान करते हैं। यह उनकी करुणा है। चन्द्रमा मन है। इसलिये वह जीव का प्रतीक है, जीव खण्ड को बतलाता है। माया जगत्खण्ड को बतलाती है, और स्वयं खण्डपरशु हैं इसलिये ईश्वर खण्ड को बतलाते हैं। इस प्रकार जीव, जगत्, ईश्वर तीनों रूप में खण्डित होते हुए भी जो उनकी शरण में जाता है उसको अखण्ड भाव की प्राप्त कराते हैं। यही उनकी करुणा है। अपने खण्डित रूप से वह प्ररोचन करते हैं। क्योंकि उनके अखण्ड निर्विषय रूप को हम विषय नहीं कर सकते इसलिये उसकी तरफ हमारी प्रवृत्ति ही नहीं बनेगी। इस प्रवृत्ति को कराने के लिए वह अपने खण्डरूप के दर्शन के द्वारा, इन तीनों रूपों के द्वारा, प्ररोचन कराते हैं। उनके इस रूप की तरफ प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब निरन्तर अविद्या में ही रहने के अपने स्वभाव को हम छोड़ दें।

आचार्य शंकर कहते हैं परप्राप्तिसाधनं सर्वसाधनसाध्यविषयवैराग्यपूर्वकं गुरुप्रसादलभ्यां ब्रह्मविद्यामाह'। साधनों से जिसको प्राप्त किया जा सकता है उसके बारे में वैराग्य होने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। संसार में दो तरह की चीजें हैं। एक — जो किसी साधन से प्राप्त होती हैं, साधनसाध्य हैं, और दूसरी — जो सहज है, स्वाभाविक है। साधन से जिसको प्राप्त किया जायेगा, जो साधनसाध्य होगा, वह जितनी देर साधन है उतनी देर तक रहेगा और जैसे ही साधन समाप्त हो जायेगा, साध्य भी समाप्त हो जायेगा।

ऐसे समझ लो — विदेशों में किसी के घर जाओ तो उसका जीवनस्तर देख कर, स्टैण्डर्ड आफ लिविंग देखकर सोचोगे यह बहुत बड़ा आदमी है। घर

में ठंडी अलमारी है, रंगदार दूरदर्शन भी है, सब कमरों में गलीचे बिछे हुए है, दीवाल से दीवाल तक, बढ़िया से बढ़िया सोफा है। जितने जीवन के सुखसाधन हैं, वे सब वहाँ हैं। सोचोगे यह बहुत बड़ा आदमी है। अब मान लो वह आदमी मर गया, चार दिन बाद, हफ्ते भर बाद यदि उसके घर में जाओगे तो बड़ी दुदर्शा देखोगे। न वहाँ ठंडी आलमारी है, न वहाँ रंगदार दूरदर्शन है, न वहाँ गलीचे हैं, न वहाँ सोफा है, कुछ भी नहीं है। तुमको आश्चर्य होगा चार दिन में सब कहाँ चला गया। यदि उसकी पत्नी से पूछोगे तो कहेगी 'वे सब की सब चीजें तो उधार आयी हुई थी!' अब तो हिन्दुस्तान में भी हायर-परचेज चलने लगा है जिसमें हर चीज उधार आती है। महीने के महीनें उसके पैसे भरते रहते हैं। हैं तो सब चीजें लेकिन अपनी कोई चीज नहीं। वहाँ की अर्थव्यवस्था ऐसी विचित्र है कि जब तक एक मोटर के दाम भरोगें तब तक वह मोटर पुरानी हो जायेगी। दूसरी नई मोटर लाओंगे, फिर उसका पैसा भरना शुरू कर दोगे। मनुष्य मरते दम तक एक न एक चीज के लिये पैसे भरता रहता है। चीज अपनी कभी होती नहीं। जैसे वहाँ सब चीजें दीखती हैं लेकिन अपनी कुछ नहीं। जब तक तनखाह आ रही है तब तक साधनसाध्य है, आदमी मरा, तनखाह आनी बन्द हुई और सब चीजें गयीं। बुरा नहीं मानना। भारतवर्ष के घर में तो अभी तक यह दुरवस्था नहीं हुई है लेकिन धीर धीरे व्यापारियों की यह दुरवस्था हो गई। करोड़ों का व्यापार होगा। कुछ इन्डस्ट्रियल इन्वेस्टमेन्ट से आया हुआ है, कुछ बैंक से आया हुआ है, कुछ बाजार से आया हुआ है। जो वहाँ करोड़ों रुपये दीख रहे हैं वे अपने नहीं हैं। और जैसे ही कहीं व्यापार का पुर्जा एक जगह से ढीला हुआ तो ताश के पत्ते की तरह सारा व्यापार धड़ाधड़ गिर जाता है क्योकिं अपना नही हैं। तब साधनसाध्य है। जब तक चक्र चलता रहेगा तब तक सब के ब्याज भी जा रहे हैं, सब के पेमेन्ट्स भी जा रहे हैं, और एक जगह रुका तो बस खत्म। तो साधनसाध्य जो चीजें हुआ करती हैं वह अपनी नहीं होतीं। जब तक तुम्हारे पास साधन है तब तक तुम्हारी है और साधन की निवृत्ति के साथ ही उसकी निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार संसार के अन्दर जिन चीजों को भी साधन के द्वारा प्राप्त किया जाता है वे अपना स्वरूप बनती नहीं और जो अपना सहज स्वभाव है, जो अपनी वास्तविकता है वह कभी जाती नहीं, क्योकिं वह किसी साधन के बल पर नहीं है। चाहे हमारे घर में चौकी ही है

लेकिन अपनी है। चाहे जो परिस्थिति हो जाये वह चौकी तो अपनी बनी रहेगी। इसी प्रकार चाहे हमारी दुकान छोटी ही है, पचास हजार के लागत की ही है, परन्तु यदि किसी का कर्जा लिया हुआ नहीं है तो कैसी भी परिस्थिति आ जायेगी वह अपनी तो रहेगी ही। जब तक मनुष्य समझता नहीं तब तक साधनसाध्य पदार्थों को प्रधान मानता है। आप लोगों में से बहुत से लोग व्यापार जानते होगें। कभी अपने दादाजी से पूछो — 'व्यापार कैसे करना चाहिये?' कहेंगे 'भैया लाख रुपया होवे तो पचीस तीस हजार का व्यापार करो। बाकी घर में बचा कर सोना चाँदी रखो'। अपने लड़के से पूछो तो कहेगा 'पिताजी अपना घर भी बैंक में लिख कर दे दों। व्यापार तो बढ़ाना ही है'। एक अनुभवी है और एक साधन से जो प्राप्त होता है उसकी चकाचौध में पड़ा हुआ है, चाकचिक्य में पड़ा हुआ है। इसी प्रकार जो संसार के स्वरूप को समझता है वह तो कहता है साधन से जितनी चीजें प्राप्त होती हैं उन्हें छोड़ो, जो अपना असली रूप है, उसको जानो— वही अपना धन है। ऐसा वैराग्य होने पर ही इस पराविद्या के निर्विषय स्वरूप की प्राप्ति संभव होती है।

वैराग्य के बिना केवल तर्क या बुद्धि की तीव्रता से आत्मज्ञान की आशा रखना मूर्खता है। बिना साधनसाध्यविषयक वैराग्य के हुए केवल हम सोचेंगे कि हमारी बुद्धि तीव्र है इसलिये हम इस पराविद्या को प्राप्त कर सकेंगे तो यह संभव नहीं। अथवा केवल हमारे पास तर्क का बल है तो हम पराविद्या को प्राप्त कर लें, यह होना नहीं। आजकल लोग चाहते हैं कि विषयों के प्रति वैराग्य हुए बिना ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाय। एक नाम भी उन्होंने याद कर रखा है जनक का। भारतवर्ष के अन्दर सैकड़ों राजा अपने राज्य को छोड़ कर जंगल में गये।

कविकुलगुरु कालिदास पूरे रघुकुल का वर्णन करते हुए कहते हैं— "वार्धक्ये मुनिवृत्तिनाम् योगेनान्ते तनुत्यजां"। "वार्धक्ये मुनिवृत्तिनाम्" जितने भी रघुकुल में राजा हुए सबने बुढापे के अन्दर मुनिवृत्ति को धारण किया। जंगल में जाकर एकान्त में तपस्या में प्रवृत्त हुए। दशरथ के बारे में आप जानते ही हैं कि एक सफेद बाल उन्होंने देखा तो तुरन्त उन्होंने तैयारी की कि राम को युवराज बना कर, काम सँभलवा कर, मैं जंगल में जाऊँ। आजकल तो सारे सिर को ढूँढ़ने पर एक भी काला बाल नहीं मिलता तब भी कहते हैं कि "अरे यहाँ संसार के अन्दर रह करके क्या ज्ञान नहीं हो सकता, जाना जरूरी है क्या?' सूर्य,

चन्द्र, अग्नि वंशों के सैकड़ों राजा, एक दो ही नहीं, पीढ़ी दर पीढ़ी इस प्रकार से गये। अति प्राचीन काल की बात छोड़ों। मेवाड़ के राणाओं की कथा एक-लिंग पुराण में आती है। बाप्पा रावल से लेकर कुम्भा पर्यन्त सभी ने अपने वार्धक्य में मुनिवृत्ति को ग्रहण किया। क्या उनको जगत् के पदार्थों के भोगों का पता नहीं था? या क्या उनको सुख देने वाले पदार्थ सुखदायी प्रतीत नहीं होते थे? प्राणिमात्र को सुखदायी पदार्थ सुखद प्रतीत होते हैं। फिर वे क्यों गये? क्योकिं वे भोग के परिणाम को देखते थे। हम केवल इतना ही देखते हैं 'इस भोग से मुझे कितना सुख मिलेगा' लेकिन ये भोग, भोग लेने पर मेरे अन्तःकरण पर संस्कार डाल कर आगे कितने बंधन का कारण बनेंगे?' इस परिणाम को नहीं देखते। हम लोगों के विचार में अधिकतर यही भूल होती हैं। दूरदर्शन देख लेगें, मन लग जायेगा, नहीं तो ऊब जाते हैं।

जरा मन लग जाता है मन बहल जाता हैं, यह हुआ भोग। मन बहल गया यह ठीक है, कौन मना करता है, परन्तु इस मनबहलाव का आगे अन्तिम परिणाम क्या होगा, यह भी कभी सोचतें हो? कौन-कोन से संस्कार चित्त पर पड़ेंगे और वे हमको कहाँ ले जायेंगे ये भी कभी सोचते हो? वे जानते थे राग से बन्धन है और वैराग्य से निवृत्ति है। इस बात को जानने के कारण वे लोग त्याग करते थे। शास्त्रकार कहते हैं कि जिसके अन्दर विवेक जागृत होता है वह तो जीवन के प्रारम्भिक काल में ही त्याग कर देते हैं।

"भव्ये देहे पटुषु करणेष्वालये श्रीसृद्धे।
कौमारान्ते वयसि कथमप्यप्रवृत्ते च दुःखे"।

शास्त्रकार कहते हैं "भव्ये देहे" सुन्दर शरीर है। सब प्रकार से शरीर में भव्यता है, शरीर में कहीं कोई कमी नहीं। "पटुषु करणेषु" आँख कान, नाक इत्यादि सारी इंद्रियाँ अत्यन्त ठीक ढंग से, चतुराई से कार्य करने में सक्षम हैं। "आलये श्रीस-मृद्धे" घर के अन्दर सब प्रकार का ऐश्वर्य है, धन सम्पत्ति है, उसकी भी कोई कमी नहीं। "कौमारान्ते वयसि" सोलह-सत्रह साल तक की कुमारावस्था होती है उसके बाद जवानी का प्रारम्भ होता है। बस कुमारावस्था समाप्त हो कर युवावस्था शुरू हो रही है। सब तरह की भोगसामर्थ्य भी है। ये सब होने पर भी अकस्मात् माता मर गई, पिता मर गया, भाई मर गया — कोई कारण हो

जाता है अनमनेपन का, किन्तु वह भी यहाँ नहीं है, यह कहते है "कथमपि अप्रवृत्ते च दुःखे" किसी भी प्रकार का दुःख सामने नहीं आया।

"प्रत्यक्पुष्पीप्रसवविधयो यस्य पुंसो निसर्गात्।

प्रत्यग्वक्त्रं भवति हृदयं कस्तदन्योऽस्ति धन्यः"

'प्रत्यक्पुष्पीप्रसवविधयः' कुछ फूल ऐसे होते हैं जो खिलने पर अपने मूल की तरफ मुख कर लेते हैं। कुछ फूल तो खिल कर बाहर की तरफ मुँह करते हैं पर कुछ फूल खिलकर अन्दर की तरफ मुँह करते हैं, अपने ही तने की तरफ। "प्रत्यक्पुष्पीप्रसवविधयः" जैसे वे स्वयं अपने अन्दर की तरफ अपने तने को देखते हैं उसी प्रकार 'निसर्गात्' स्वभाव से ही जिस पुरुष का हृदय अर्थात् मन 'प्रत्यग्वक्त्रं' अपने प्रत्यगात्मा की तरफ ही जाता है। शरीर ठीक है, इन्द्रियाँ ठीक हैं, घर में धन है, उमर भी नयी है, किसी प्रकार का दुःख नहीं, परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी जब उसका फूल खिलता है तो "प्रत्यग्वक्त्रं भवति हृदयम्" वह परमात्मा की तरफ, अपने हृदय में रहने वाले परमात्मा की तरफ जाता है। "कस्तदन्योऽस्ति धन्यः" वास्तविक धन्यता तो उसी की है। वही धन्य है।

जिसमें वैराग्य नहीं होता है उसका भी हाल शास्त्रकारों ने बताया है।

"शान्तो वह्निर्जठरपिठरे संस्थिता कामवार्ता।

धावं धावं दिशि दिशि शनैरिन्द्रियाश्वा निपेतुः"।

'शान्तो वह्निर्जठरपिठरे' बुढापा आ गया है इसलिये पेट की अग्नि अत्यन्त शान्त हो गई है। चूर्ण खाते रहते हैं, फिर भी भूख लगती नहीं। जब देखो तब कुछ न कुछ हजम करने की गोलियाँ लेते रहते हैं। और फिर भी कहते हैं 'वैद्य जी, बिल्कुल भूख लगती नहीं, एक फुल्का भी खाने की इच्छा होती नहीं, कोई चूरण चटनी दो।' पेट का जो पिठर है उसकी आग शान्त हो गई है। इतने पर भी खाने की इच्छा जा नहीं रही है। "संस्थिता कामवार्ता" ऐसी वृद्धावस्था के अन्दर संसार के ग्राम्य भोगों की बात तो उठनी ही कहाँ है? वह भी सर्वथा संस्थित हैं। उसकी भी कोई संभावना नहीं। "धावं धावं दिशि-दिशि शनैरिन्द्रियाश्वा निपेतुः।" इंद्रियरूप घोड़े दुनिया भर में दौड-दौड कर सर्वथा अपनी भी सामर्थ्य खत्म कर चुके हैं। आँख देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकता, पैर चल नहीं

सकते । इंद्रियरूप घोड़े भी सर्वथा 'निपेतुः' गिर पड़े हैं, अब उनमें भी दम नहीं रहा । परन्तु स्थिति क्या है ?

"एवं दैवात्परशममगाद् वैरिवर्गो ममायं

चेतस्त्वेकं न वशमयते किं करोमि क्व यामि ।"

"एवं दैवात् परशममगात्" इस प्रकार मेरे बिना कुछ प्रयत्न किए हुए ही दैव-वशात्, अपने आप ही यह जो मेरा वैरी वर्ग है वह शांत हो गया है । आदमी यही तो कहता है 'क्या करें जी, पापी पेट के लिये सब कुछ करना पड़ता है' वह पापी पेट तो अब कुछ खा ही नहीं रहा है । उसके लिये अब करने की क्या जरूरत है ? इसी प्रकार से आँख की देखने की इच्छा नहीं, दोनो आँखों में मोतियाबिन्दु उतर रहा है । अब क्या देखने की इच्छा करनी है ? "वैरिवर्गः" मेरे जो ये सारे दुश्मन हैं वे 'दैवाद्' अपने आप ही शान्त हो चुके हैं । काम करना छोड़ चुके हैं । "चेतस्त्वेकं न वशमयते" परन्तु यह जो अन्दर में चित्त है, मन है, यह एक ऐसा है कि वश में नही आ रहा ।' किं करोमि' क्या करूं ? 'क्व यामि' कहाँ जाऊँ जो इसके पल्ले से दूर हो सकूँ ?

अतः धन्य तो वही है जो सारी सामग्रियों की उपलब्धि में भी वैराग्य के कारण, पूर्व जन्म के कर्मो के कारण प्रत्यगात्मा की तरफ जाता है, संसार की तरफ नहीं दौडता और अधन्य वह है जिसकी बाहर की ये सारी चीजें शान्त हो गयीं, फिर भी उसकी प्रवृत्ति उसी तरफ जाती है, क्योकिं वह समझता नहीं कि इस भोग का परिणाम क्या होगा ।

एक तालाब में तीन मित्र मछलियाँ थीं । आपस में बड़ी दोस्त थीं । एक का नाम था दीर्घदृष्टि, एक का नाम था प्रत्युत्पन्नमति, एक का नाम था दीर्घसूत्री । ये तीनों आपस में बड़ी मित्रता रखती थीं । एक बार उस तालाब में मछुए आ गये । मछुए जब कहीं पानी में मछलियों को पकड़ते हैं तो पहले बन्धे को तोड़ कर पानी कम कर देते हैं । उन्होनें भी बन्धे को तोड़ा और पानी कम करने लगे । अकस्मात् पानी को इतनी शीघ्रता से कम होते देख कर दीर्घदृष्टि विचार करने लगी कि अरे अकस्मात् पानी कम क्यों हो रहा है ? ज्येष्ठ की गर्मी में भी इतनी जल्दी इतना पानी कम नहीं होता । अभी जेठ का मौसम भी नही हैं, जेठ की गर्मी भी नहीं है, और पानी उससे भी चौगुना कम हो रहा है । इसलिये कोई न

कोई खतरनाक स्थिति उत्पन्न होने वाली है। सामान्य नियमों को छोड़ कर अकस्मात् कोई अनियम उत्पन्न हो जाय तो तुरन्त बुद्धिमान् समझ लेता है कि कोई विपरीत स्थिति आने वाली है। कोई अत्यन्त दुःख की घटना घटने वाली है। दीर्घदृष्टि ने अपने दोनों मित्रों को प्रत्युत्पन्नमति और दीर्घसूत्री दोनों को कहा कि 'अरे खतरा मालूम पड़ रहा है। इसलिये अपने को समय रहते निकल जाना चाहिये।' वे दोनों कहने लगी 'अभी कौन सा पानी इतना कम हो गया है। अभी तो बहुत पानी है। कहाँ भटकने के लिये इधर-उधर जायेंगे? यहीं रहें शान्ती से।' दीर्घदृष्टि ने समझाया लेकिन उनकी समझ में बात आई नहीं। दीर्घदृष्टि तो रात के समय चली गई। जहाँ से बन्धा टूटा था वहीं से ऊपर आ कर निकल गई। अब जब पानी कम हो गया तो मछुओं ने जाल डाल दिया। अब मछिलियों को पकड़ने लगे। जाल से बचने के लिये मछलियाँ कहीं नीचे न बैठ जायें, इसलिये वे लोग पैरों से सारे कीचड़ को रौंदते हैं जिससें मछली ऊपर आये और जाल में फँस जाये। सारे तालाब को उन्होनें अच्छी तरह से मथ डाला। तो प्रत्यत्पन्नमति और दीर्घसूत्री भी जाल में फँस गयी। जब जाल में फँसा लेते हैं तो उसके बाद उस जाल के अन्दर ही वे पानी में ले जाकर मछलियों को अच्छी तरह से धोते हैं। धोने के पहले सभी मछलियों को एक काँटें के द्वारा पिरों लेते हैं। एक काँटे और धागे के अन्दर उन सबको गूँथ लेते हैं। जब वे लोग यह कार्य कर रहे थे तो प्रत्युत्पन्नमति ध्यान देकर देखने लगी कि वे क्या कर रहे हैं। तब उसने खुद ही अपने आप को उस धागें को पकड़ लिया जिससे मछुए समझें कि यह पोई हुई मछली है। दीर्घसूत्री कुछ नहीं कर सकी, उसको उन्होनें सुए से पो दिया। अब जब उन्होंने देखा कि सब मछलियाँ पकड़ ली गई हैं तो ले जाकर तालाब के अन्दर उनको धोने लगे जो प्रत्युत्पन्नमति थी उसने वहाँ पर धीरे से डोरे को छोड़ दिया। वह तो अपने मुँह से पकड़े हुए थी। छोड़ते ही पानी में चली गयी, बच गयी। दीर्घसूत्री पोई गयी थी अतः ले जाकर बेची गयी, पकायी गयी, खत्म हो गयी।

इसी प्रकार से तीन प्रकार के जीव हैं। ये तीनों मछलियाँ तीन प्रकार के जीवों को बतलाती हैं। एक तो दीर्घदृष्टि वाला था जिसको यहाँ धन्य कहा। संसाररूपी तालाब है। इसके अन्दर तुमको आयु का जल मिला हुआ है। प्रारब्धभोग करने के लिये वही पानी भरा हुआ है। कालरूप मछुआ जब आता है

तो जाल फेंक कर पकड़ता है। जो दीर्घदृष्टि वाला है वह तो जवानी तक पहुँ-चते-पहुँचते ही सोचने लगता है 'अरे आयुरूप काल तो बहा जा रहा है। अगर मैं सौ साल की आयु लेकर आया था तो दस साल की आयु तो कम हो गई, नब्बे रह गई। पाँच और चली गई, पिच्चासी रह गई। वह तो सोचता है कि आयु जा रही है। (आयु) जल कम हो रहा है। कालरूप मछुए आये हैं पकड़ने के लिये। इसलिये इस संसार के भोगों के मध्य में न जाकर पहले ही यहाँ से रास्ता बचा कर निकल जाना है। अतः बिना किसी प्रकार के शारीरिक, मानसिक या घर के दुःख के ही वह तो रास्ता बचा कर चला जाता है। "प्रत्यग्वक्त्रं भवति" प्रत्यगात्मा की तरफ चल देता है। यदि वह इस बात को किसी को सम-झाने का प्रयत्न करता है तो भी कोई समझना चाहता नहीं। जब बाज झपटता है तो शुतुर्मुग बालू में अपना मुंह छिपा लेता है और सोचता है मैं बच जाऊँगा। अब तो कहीं बाज नहीं है। इसी प्रकार अधिकतर लोग सोचते हैं हम मृत्यु की बात नहीं सोचेगें तो बच जायेंगे। इसलिये अपने मृत्यु के विषय में कोई सोचना ही नहीं चाहता।

यदि कोई उनको समझाने का प्रयत्न भी करे तो कहते हैं- 'अरे जीवन के डार्क साइड को— अंधियारे हिस्से को— मत देखो। उसकी तरफ मत ध्यान दो। इससे तो बिना मतलब दुःख होगा। 'कब जीवन की असलियत को दे-खो?' जब किसी को कन्धे पर उठा कर ले जाओं तब कहना "राम नाम सत्य है", उसके पहले कभी नहीं कहना। यदि उसके पहले कभी घर में कोई कह दे 'राम नाम सत्य है' तो कहेंगे 'बुरी बात है। यह नहीं कहना चाहिये।' क्या इससे मनुष्य बच जायेगा। वो सोचते है भोगों के संसार में पड़े रहो, वृद्धावस्था में बच जायेंगे। पहले तो किसने देखा है बुढ़ापा आयेगा ही? फिर बुढापा आने पर सब परिस्थितियाँ अनुकुल होंगी, यह किसने देखा है? कई बार मनुष्य जब वृद्धावस्था में पहुँचता है तो जवानी की अपेक्षा भी घोर परिस्थितियों में पड़ जाता है। वहाँ से निकलने की संभावना नहीं रहती। शरीर काम नहीं कर सकता, अन्य परिस्थितियाँ अनुकुल नहीं। कई कठिनाइयाँ आती हैं। फिर भी यदि कोई विचारशील होता है तो जैसे वह बीच वाली मछली बुद्धिमत्ता से बच गई थी, वैसे जीवन के अन्तकाल में भी यदि परमात्मा की तरफ चलता है तो अपने को बचा सकता है। दीर्घदृष्टि तो निश्चित बच जाती है, मध्य वाला बचने की संभावना

में है। परन्तु जो दीर्घसूत्री की तरह तब भी टालता रहता है, उस समय में भी जिसका चित्त वश में नहीं रहता, ऐसा दीर्घसूत्री सर्वसाधनसाध्यविषयवैराग्य-पूर्वक न होने से परमात्मा के मार्ग में पराविद्या की प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति कर ही नहीं सकता। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं—

"ज्ञानमात्रे यद्यपि सर्वाश्रमिणामधिकारः

तथापि संन्यासनिष्ठा ब्रह्मविद्यैव मोक्षसाधनम्।"

सभी आश्रमों में मनुष्य ज्ञान के साधनों को कर सकता है। चाहे ब्रह्मचारी हो चाहे गृहस्थ हो, चाहे वानप्रस्थ हो, चाहे संन्यासी हो, परमात्मज्ञान में सभी आश्रम वालों का अधिकार है। परन्तु बिना वैराग्य के, बिना परिग्रहत्याग के मनुष्य की ज्ञाननिष्ठा नहीं हो पाती। ज्ञान तो कहीं भी हो जायेगा लेकिन उस ज्ञान में जो नितराम् स्थिति रखनी है, वह बिना त्याग के, बिना वैराग्य के बनती नहीं। इस-लिये यहाँ पर भी आगे जाकर कहेगें "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्" इसी उपनिषद् में आगे आयेगा कि जो ब्रह्मज्ञान के लिये प्रवृत्त हुआ है उसको पदार्थों के प्रति भोग की आस्था छोडनी पड़ती है। यह जो शुद्ध बुद्धि है, वह सत्कर्म से, सत्संग से ही प्राप्त होती है। यह जो विद्या की परंपरा को बतला रहे हैं वह इसलिये कि सत्कर्म और सत्संग से शुद्ध बुद्धि होकर वैराग्यपूर्वक ही इसकी प्राप्ति संभव है। अब वैराग्य की दृढता का जो रूप है उसके ऊपर आगे विचार करेंगे।

तृतीय प्रवचन

(२३ नवम्बर १९८८)

अथर्ववेद की मुण्डकोपनिषद् में बताई गई पराविद्या का विचार प्रारम्भ किया। देवताओं में प्रथम ब्रह्म स्वतंत्र रूप से उत्पन्न हुए अर्थात् अन्य जीवों की भाँति धर्माधर्म के परतन्त्र होकर नहीं, वरन् स्वतंत्र होकर ही उनका संभव हुआ, उनकी उत्पत्ति हुई। वे ही इस विश्व के कर्ता है और इसके रक्षक है। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को सारी विद्याओं की प्रतिष्ठारूप ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अब आगे उसी परम्परा को बतलाते हुए कहते हैं—

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।

स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोङ्गिरसे परावराम्।

"ब्रह्मा यां ब्रह्मविद्यामथर्वणे प्रवदत" ब्रह्मा जी ने जिस ब्रह्मविद्या को अथर्वा को सिखाया, बताया, "ताम् अथर्वा अंगिरे पुरोवाच" उसी विद्या को आगे अंगिर को अथर्वा ने सिखाया। अथर्वा का विचार करते हुए बतलाया था, थर्व नाम कुटिलता का। अतः अथर्व अर्थात् अकुटिल। जिसने कुटिलता का व्यवहार छोड़ दिया है वही ब्रह्मविद्या का अधिकारी है।

आगे कहते हैं कि और उस विद्या का अधिकारी कौन हो? 'अंगिर्'। 'अंगिर्' का मतबल होता है स्वीकार करना। किसी चीज को जैसा है उसको सत्य रूप से समझना। हिन्दी में भी यह अंगिर् शब्द चलता है जब कहते हैं मैंने तुम्हारी बात को अंगीकार कर लिया, अर्थात् स्वीकार कर लिया। ब्रह्मविद्या का अधिकारी वह है जो इसमें बताये हुए तत्त्व को स्वीकार करता है। जिसके मन में हमेशा संदेह पड़ा रहता है — क्या पता वेद जो कहता है वह ठीक है या नहीं? गुरु इस बात को कह रहे हैं परन्तु उनको इसका अनुभव है या नहीं? क्या पता यही अन्तिम तत्त्व है या नहीं? इस प्रकार जिसे हमेशा संदेह बना रहता है उसको यह ब्रह्मविद्या प्रकाशित होती नहीं। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये स्वयं मेरा अनुभव वास्तविक है ऐसा अंगीकार करना जरूरी है। संसार में बहुत से लोग स्वयं अपने अनुभव को भी अंगीकार करते नहीं इसलिये विद्यारण्य

महामुनि ऐसे लोगों की दुविधा को देखते हुए कहते हैं, जो स्वयं अपने अनुभव को स्वीकार नहीं कर सकता, उसी के बारे में संदेह वाला है, उसे शास्त्र भी कैसे ज्ञान करावें ?

"तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्ठं नरसमाकृतिम्"।

देखने में तो वह मनुष्य है लेकिन है वह मिट्टी का लोंदा। अनुभव कर वेद की बात को स्वीकार करना है, बिना अनुभव के स्वीकार करने की बात नहीं कह रहे हैं। परन्तु यह अनुभव भी क्या ठीक है या नहीं ऐसा संदेह नहीं करना है। तार्किक लोग हर अनुभव पर संदेह करते हैं। वे कहते हैं सामने यदि आँवला रखा हुआ है और उस का ज्ञान हुआ तो यह मत मान लो कि वह प्रमाण है। अनुव्यवसाय करके देखो, तर्क करके देखो कि क्या वह प्रमाण है या नहीं। स्वयं अपने अनुभव को भी जो सदा संदिग्ध दृष्टि से देखेगा वह कैसे चरम अनुभव पायेगा ? परमात्मज्ञान का अनुव्यवसाय तो होना नहीं है।

मोटी भाषा में समझ लो— यदि कोई कहे 'सामने रस्सी पड़ी है, दीख रही है, प्रकाश भी बिल्कुल साफ है फिर भी जब तक रस्सी को उठाकर किसी बिस्तरे को इससे बाँध करके देख न लूँ तब तक कैसे दृढ निश्चय होवे कि यह रस्सी है ? जब इससे किसी व्यवहार को साध लूँगा तभी न निश्चय करुँगा कि यह रस्सी है।' तो ऐसा व्यक्ति ब्रह्म के ज्ञान को पाकर भी कहेगा 'इसकी भी तो अर्थक्रियाकारिता देख लूँ।' इससे किसी व्यवहार की सिद्धि होनी नहीं इसलिये उसको कभी इसका निश्चय होना नहीं। उसको हमेशा इसमें संदेह बना रहेगा।

अथर्वा ने अंगिर् को इसका उपदेश दिया अर्थात् अंगीकार करने वाले को उपदेश दिया। शास्त्र और गुरु के बताये हुए मार्ग से चलकर उस अनुभव के होने पर उसको शंका करने को बृहदारण्यक उपनिषद् में अतिप्रश्न कहा है। परमात्मा का अनुभव होने पर भी उसके अन्दर ऊट-पटांग अपनी तरफ से विचार करके जो संदेह करता है ऐसे व्यक्ति को अतिप्रश्न करने वाला कहा है। और उपनिषद् स्पष्ट कहती है — अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये।

अंगीकार करने वाले अंगिर् महर्षि ने "भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह" भरद्वाज कुल में उत्पन्न सत्यवह महर्षि को इसका उपदेश दिया। यह भी अधिकारी को बतलाता है। इसका नाम है — सत्यवह। जो हमेशा सत्य का वहन

करता है अर्थात् अपने मन से, वाणी से, शरीर के व्यवहार से कभी भी असत्यता को प्रकट नहीं करता। वैदिकों के अन्दर सबसे प्रधान धर्म सत्य ही माना गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसीलिये कहते हैं "सत्यं वद धर्मं चर" सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। प्रश्न होता है, सत्य तो धर्म ही है अतः 'धर्मं चर' कहने से सत्यवदन तो आ ही गया फिर 'सत्यं वद' क्यों कहा? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर जवाब देते हैं कि सत्य की प्रधानसाधनता बतलाने के लिये, सब धर्मों की अपेक्षा सत्य की श्रेष्ठता का निरूपण करने के लिये सत्य का अलग से ग्रहण किया। अन्यत्र भाष्यकार कहते हैं — "प्राणात्ययेऽपि ये सत्यं न त्यजन्ति तेषामेव एषा ब्रह्मविद्या" प्राण छूट जाने की संभावना आने पर भी जो सत्य को नहीं छोड़ता उसी को यह ब्रह्मविद्या प्रकाशित होती है। यह इसलिये क्योंकि ब्रह्म सत्यरूप है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। सत्य ब्रह्म का स्वरूप है। जो व्यवहार में भी सत्य का आलम्बन नहीं कर सकता वह परम सत्य का आलम्बन कहाँ से ग्रहण करेगा। इसलिये कहा 'सत्यवहाय'। सत्य को वहन करने वाला, सत्य को धारण करने वाला ही इस ब्रह्मविद्या का अधिकारी बनता है।

और वह कैसा है? 'भारद्वाजाय'। भारद्वाज कुल में, गोत्र में उत्पन्न होने के कारण उसको भारद्वाज कहा। वाज नाम अन्न का है। इसीलिये नचिकेता के पिता का नाम है वाजश्रवा। अन्नदान के निमित्त से जिसकी श्रव अर्थात कीर्ति है। अत्यधिक अन्न दान करने वाला है इसलिये उसको वहाँ वाजश्रवा कहा है। इसी प्रकार यहाँ पर भरद्वाज अर्थात् अन्न का सर्वत्र भरण करने वाला। दान में सर्वप्रधन दान शास्त्रों में अन्नदान माना है। बाकी सब चीजों का दुरुपयोग हो सकता है अन्न का कभी दुरुपयोग नहीं हो सकता क्योकिं अन्न तो प्राण का धारण करायेगा ही। इसीलिये पुराने लोग घर में हमेशा अन्न रखते थे। कोई भूखा आए तो चाहे उसको मुठ्ठी चना और गुड ही देवें, कुछ न कुछ अन्न का दान करते थे। स्वयं अपने खाने के पहले अतिथि की राह देखते थे। किसी अतिथि को पहले भोजन कराकर तब खाते थे। क्योंकि शास्त्रकार कहते हैं भोजन कभी खुद अपने लिये नहीं पकाना चाहिये। अपने से श्रेष्ठ लोगों के लिये पकाने अथवा अपने से बराबरी वालों के लिये पकावें।

"नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादि"।

जो अपने से श्रेष्ठ लोगों को भी भोजन नहीं कराता 'नार्यमणं पुष्यति' और 'नो सखायं' अपने साथ वालों को, मित्र इत्यादि का भी पोषण नहीं करता, केवल स्वयं अकेले ही खाने की सोचता है वह "केवलाघो भवति" वह केवल पाप ही खाता है। इसलिये प्राचीन लोग हमेशा चाहते थे किसी अतिथि को भोजन कराकर तब भोजन करें। आज तो विचित्र परिस्थिति है। अतिथियों को जाने दो, खुद अपने नौकरों को भी पेट भर खिलाने की इच्छा नहीं होती। अपना पेट खराब रहता है इसलिये दो फुल्के से ज्यादा हजम नहीं होता। जब नौकरों को दस फुल्के खाते देखते हैं तो छाती बैठती है। 'यह तो बहुत खाता है।' प्रसन्नता नही होती। इसके प्राण तृप्त हो रहे हैं— ऐसी प्रसन्नता नहीं होती। अन्न का दान प्राण के निमित्त से दिया जाता है, प्राण को दिया जाता है। भूख प्यास ये प्राण के धर्म हैं। अतः अन्न दान करने में कभी यह विचार नहीं किया जाता कि जिसको अन्न खिलाया जा रहा है वह कैसा है। क्योंकि न हम चोर को खिला रहे हैं, न हम लुटेरे को खिला रहे हैं, न हम विद्वान को खिला रहे हैं, हम तो प्राण को खिला रहे हैं। भूख प्यास ये प्राण के धर्म हैं। प्राण को आहुति दी जा रही है। इसलिये उसका शरीर आदि क्या करता है यह विचार का विषय ही नहीं। इसलिये जिसके पास धन आदि होता था वे लोग जगह-जगह पर अन्न- क्षेत्र खोलते थे, कोई आवे उसको भोजन मिले। जो इस प्रकार से अन्नदान में प्रवृत्त है— वहीं भरद्वाज है। जो व्यक्ति हमेशा अन्न को पकाता है, अपने लिये नहीं, किसी न किसी को खिलाने के लिये, वह भरद्वाज भी बन सकता है। इस प्राचीन दृष्टि का कुछ प्रभाव बुड्ढ़ी औरतों में अभी भी है। पति काम करने के लिये बाहर गया है। लड़के ने कह दिया मुझे किसी के घर भोज में जाना है, पार्टी में जाना है। तो खुद अपने लिये बनाना होता है तो सोचती है 'अपने लिये क्या बनाना। अपने लिये खिचड़ी ही बनाकर खा लो, दलिया ही बनाकर खा लो'। पूछो 'अरे क्या बात है? आज केवल यही कैसे बनाया' तो बोलेगी 'घर में किसी को तो खाना नहीं था, अपने लिये क्या बनाना?' मानसिक वृत्ति है— अपने लिये क्या बनावें। पुत्र को खाना हो तो बना देगें, पति को खाना हो तो बना देगें। "केवलाघो भवति" खाली अपने ही खाने का क्या सोचना? अब उसका विपरीत क्रम है। मुझे शक्कर की बीमारी हो गई है, डायाबिटीज हो गयी, मधुमेह हो गया तो घर में मिठाई ही नहीं लाता। मुझे नहीं खानी तो घर में और

किसको खानी है। मुझे वैद्य ने कह दिया उबली सब्जी खाओ, केवल घिया, टिण्डा खाओ तो घर में आलू आना बन्द हो गया। घिया टिण्डा ही लाओ, मुझे नहीं खाना तो किसी को क्यों खाने देना। पहले प्रवृत्ति थी कि मैं अपने लिये क्यों खाऊँ और अब है कि जो चीज मैं न खाऊँ वह और कोई क्यों खाये। यह है दृष्टि का परिवर्तन। "भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह" अंगिर् महर्षि ने ऐसे भारद्वाज सत्यवह को वह विद्या दी जो सत्यवह भी था और भरद्वाज कुल का भी था।

"भारद्वाजो अंगिरसे परावरां" आगे भारद्वाज ने इस ज्ञानको अंगिरस् महर्षि को दिया। सारे अंग जिसके होते है उसको अंगी कहते हैं, सारे अवयव जिसके होते हैं उसको अवयवी कहते हैं। जैसे हाथ, पैर, कान, नाक, आँख ये सब तुम्हारे अंग हुए और तुम अंगी हुए। इसी प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड अंग है और इन सब का अंगी है 'चेतन।' वह चेतन ही ऐसा रस है जो सारे अंगों में फैला हुआ है। वही आनन्द रूप है। चेतन ही आनन्द है विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' जो व्यक्ति इस प्रकार से अंगी को ही एकमात्र रस स्वीकार करता है, वह हुआ अंगीरस्। वह परमात्मा को ही एकमात्र स्वीकार करता है, वह हुआ अंगिरस्। वह परमात्मा को ही एकमात्र रस स्वीकार करता है, आनन्दरूप स्वीकार करता है। संसार के सब पदार्थों में आनन्द की प्रतीति होती है परन्तु वह इस बात को जानता है, मानता है, स्वीकारता है कि हम सबके अन्दर रहने वाला वह जो आनन्दरूपी रस है, वह अंगी परमात्मा है। जिस प्रकार से जलेबी में भी मिठास है, इमर्ती में भी मिठास है, लड्डू में भी मिठास है, हलुए में भी मिठास है। इन सब चीजों में मिठास है, लेकिन वह मिठास किसकी ? चीनी की। जिस-जिस में चीनी पड़ी है उस-उस में मिठास का अनुभव है। इसलिये जैसे इमर्ती खाओ, जलेबी खाओ, लड्डू खाओ, हलुआ खाओ, तुम जानते हो इसमे मिठास चीनी की है। इसी प्रकार संसार के अन्दर जहाँ कहीं भी सुख का अनुभव होता है इस बात को समझना है, जानना है, मानना है, स्वीकार करना है कि वह सुख परमात्मा का है। इस प्रकार सर्वत्र परमात्मदृष्टि करने वाला जो होता है वही इस श्रेष्ठ विद्या को, पराविद्या को प्राप्त कर सकता है।

यहाँ प्रारम्भ में गुरुपरम्परा बतायी। गुरु ने अपने शिष्य को विद्या बतायी। इसके द्वारा स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं की ज्ञान का एकमात्र कारण श्रवण है।

इस विद्या की प्राप्ति का कारण है श्रवण, सुनना। परम्परागत विद्या को सुनने से ही ज्ञान होता है परन्तु सुनने का मतलब क्या है ? सर्वज्ञात्म महामुनि कहते हैं संक्षेप शारीरक में "शब्दशक्तिविषयं निरूपणं युक्तितः श्रवणमुच्यते बुधैः"। "शब्दशक्तिविषयं" जो शब्द सुना जाता है उस शब्द की शक्ति किस विषय में है इसका विचार करना है। यह विद्या गुरु व शिष्य दोनों के परिश्रम से आती है। उपनिषद् का अध्ययन करने के पहले हम प्रतिज्ञा करते हैं "सह वीर्यं करवावहै।" गुरु और शिष्य दोनों मिलकरके परिश्रम करेंगे। एक का परिश्रम पर्याप्त नहीं हैं। इसलिये यह सुनना केवल कानों में श्रवण पड़ना नहीं हैं, कानों में केवल शब्द पड़ना नहीं है। जो शब्द सुना है उसकी शक्तिविषयता कहाँ हैं— क्या कहा जा रहा है इसका निर्धारण करना है। किसी चीज का पहले अनुभव किया हुआ होवे, उस चीज को जब सुनते हो तो तुमको परिश्रम नहीं करना पड़ता क्योंकि जानी हुई बात है। जो जानी हुई बात नहीं है उसको जब सुनोगे तो परिश्रम करके समझना पड़ेगा क्या कहा जा रहा है। और करना पड़ेगा युक्तिपूर्वक, विचारपूर्वक क्योंकि शब्द जिस चीज को समझाता है, उसको किसी ढंग से समझाता है। आचार्यों ने प्रश्न उठाया है 'किमिदं श्रवणं नाम ?' श्रवण चीज क्या है। तो कई विकल्प कहते हैं — "शक्तितात्पर्यावधारणां वा, तद्विशिष्टशब्दावधारणां वा, तात्पर्यप्रमापकलिंगावधारणं वा, आगमाचार्यो उपदेशो वा" ज्ञान का अंगभूत श्रवण किसको कहें ? शब्द की शक्ति का तात्पर्य क्या, इसका निश्चय करना अथवा इन शब्दों का आपस में क्या विशिष्ट सम्बन्ध है, इसका निश्चय करना। विशेष्य-विशेषणभाव — यह विशिष्ट संबंध है। अथवा तात्पर्य को बतलाने वाले किसी चिह्नविशेष का निश्चय करना। श्रवण किसको कहें ? इस पर कहते हैं कि शब्द की शक्ति का विषय तो ब्रह्म कभी है ही नहीं। किसी शब्द के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान कराओगे कैसे ? सर्वज्ञात्म महामुनि ने कह दिया "शब्दशक्तिविषयं निरूपणम्" लेकिन शब्दशक्ति की विषयता तो ब्रह्म में है नहीं। गौड ब्रह्मानन्द स्वामी कहते हैं "शुद्धे शक्तिर्न संभवेत्।" ठीक है शुद्ध ब्रह्म के अन्दर शब्द की शक्ति नहीं है परन्तु विशिष्ट शक्ति ग्रहण तो करोगे विशिष्ट में। लेकिन विशिष्ट के अन्दर जो शक्ति ग्रहण करोगे वह शुद्ध के ज्ञान में उपयोगी हो जायेगी। ग्रहण करोगे विशिष्ट में और काम आयेगी वह शुद्ध के ज्ञान में। इस प्रकार से उसका अवधारण संभव है, निश्चय संभव है। शुद्ध ब्रह्म के सिवाय जब

किसी भी चीज का ज्ञान हमको लोक में होता हैं तो किसी न किसी विशेष्य और विशेषण सम्बन्ध को लेकर होता है। इसलिये विशिष्ट में शक्ति का ज्ञान होगा और उससे विशिष्ट की उपस्थिति होगी। विशिष्ट की उपस्थिति होने पर उसके अधीन शुद्ध की भी उपस्थिति हो जायेगी। विशेषण को छोड़ दोगे तो शुद्ध रह जायेगा।

जब हम जीवात्मा कहेंगे तो अन्तःकरणविशिष्ट चेतन ही तो उपस्थित होगा। जब हम ईश्वर कहेंगे तो मायाविशिष्ट चेतन ही तो उपस्थित होगा। अंतः-करण से विशिष्ट चेतन जब आ गया तो चेतन तो आ ही गया। मायाविशिष्ट चेतन आया तो चेतन तो आ ही गया।

इस प्रकार से जो विशिष्टज्ञान है वह शुद्ध बोध का हेतु हो जाता है, कारण हो जाता है। कल इसीलिये बतलाया था कि वह परमेश्वर अखंड होते हुए तीन खंडों में उपस्थित होता हैं। उपस्थित विशिष्ट रूप से होता है। यह रहस्य न समझने से ही कई बार आदमी सोच लेता है 'मुझे तो निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान की जरुरत है और ये तो सारे जगत् की उत्पत्ति बतलाने लग गये। यह तो सब ईश्वर से होता है जी, मुझे तो शुद्ध ब्रह्म चाहिये।' भाई शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान होगा ही विशिष्ट की उपस्थिति होने पर। शब्दों के द्वारा जब लायेंगे तब विशिष्ट आयेगा। जब विशिष्ट आयेगा तो वहाँ पर शुद्ध है। इसलिये वह शुद्ध प्रमा का प्रयोजक हो जाता है, ज्ञान का हेतु हो जाता है। यद्यपि शब्दशक्ति का विषय तो विशिष्ट ही है परन्तु उस विशिष्ट के द्वारा ही शुद्ध का बोध हो जाता है। श्रवण को बार-बार करना जरूरी होता है। हर शिष्य ने श्रवण किया— यह इसकी सूचना देता है कि श्रवण बारम्बार करना चाहिये। जब तक ज्ञान न हो जाय तब तक श्रवण आदि क्रिया को करते ही रहना पड़ेगा, प्रयत्नपूर्वक करना पड़ेगा। जिस प्रकार से दाल पीसनी है, कचौड़ी बनाने के लिये। कोई पूछता है 'कब तक पीसें?' न घड़ी देखकर बतला सकते हैं कि बीस मिनट पीसो, न गिन कर बतला सकते हैं कि पाँच सौ बार लोढ़ा चलाओ। यही कह सकते हैं कि जब तक दाल पूरी पिस न जाय तब तक पीसो। क्योंकि यदि सिल और लोढ़े के अन्दर अच्छी तरह से टाँचा लगा हुआ है तो पाँच मिनट पहले पिस जायेगी। अगर टाँचे पुराने पड़ गये हैं, सिल चिकनी हो गई है तो दस मिनट जादा लगेगा। न समय बतला सकते हैं, न बार बतला सकते हैं। यही कह सकते है

'भाई तब तक पीसते रहो जब तक पिस न जाय।' क्योंकि दृष्ट फल है। देखा जा सकता है, पिस गई कि नहीं पिस गई। इसी प्रकार तब तक श्रवण करें परमात्मा के विषय में जब तक ज्ञान न हो जाय। देखा जाता है कि किसी को एक बार सुनकर ही ज्ञान होता है और किसी को अनेक बार सुनकर ज्ञान होता हैं। इसलिये श्रवणादि क्रिया का तब तक प्रयत्न करना है जब तक ज्ञान हो न जायँ क्योंकि दृष्ट फल है।

प्रयाग के पास प्रतिष्ठानपुर है जिसके आजकल झूँसी कहते हैं। वहाँ पर पृथ्वीरूप राजा था और अत्यन्त सुन्दर था। एक बार वहाँ से कोई बौद्ध भिक्षु जा रहा था। उसने पृथ्वीरूप राजा को देखा। उसको अत्यन्त सुन्दर देख कर उसने विचार किया कि इसके लायक ही कोई लड़की मिले और उससे विवाह करे तो ठीक होगा। उसने लोगों से कहा कि मैं राजा से मिलना चाहता हूँ। समय बता दिया गया। राजा से मिला तो राजा ने कहा 'आप को क्या चाहिये ?' उसने समझा बौद्ध भिक्षु है, कुछ लेने आया होगा। उसने कहा 'राजन् मुझे कुछ नहीं चाहिये। परन्तु तुम्हारे लायक एक ही कन्या है। उसका नाम है रूपलता, वह बड़ी सुन्दरी है। वह मुक्तिपुर में रहती है। उसके पिता का नाम रूपधर और माता का नाम हेमलता हैं। वही तुम्हारी रानी बनने के योग्य है क्योंकि जैसी तुम्हारी सुन्दरता है वैसी ही उसकी सुन्दरता है।

राजा उसकी बात से प्रभावित हो गया। राजा ने मुक्तिपुर का पता लगा कर उस लड़की के साथ बात करने के लिए लोगों को कहा। समुद्र का एक टापू था मुक्तिपुर, बहुत ढूँढ़ने के बाद उसका पता लगा। उधर वह बौद्ध भिक्षु विचारने लगा कि यदि वैसे ही उस राजा की तरफ से खबर आयेगी तो क्या पता ये लोग स्वीकार करें या न करें। वह बौद्ध भिक्षु बड़ा अच्छा चित्रकार था। उसने बड़ा सुन्दर चित्र खींचा और मुक्तिपुर जाकर रूपलता को दिखा दिया और कह दिया 'यह राजा है प्रतिष्ठानपुर का, तुम्हारे लायक यही पति है।' वह भी उसको देखकर प्रसन्न हो गई कि हाँ, यह मेरे लायक पति है। इधर राजा पता लगाकर वहाँ पहुँचा। वह तो पहले ही चित्र देख चुकी थी। माता-पिता ने उसको स्वीकार कर विवाह कर दिया। वहाँ से जब वह विवाह कर आया तो प्रतिष्ठानपुर की जितनी स्त्रियाँ थीं वे सब नाराज हुए बैठी थीं। क्या हमारे यहाँ कोई नहीं जो सबको छोड़कर ये दूर देश से लेकर आ रहा है। परन्तु हाथी पर बैठ

कर जब उसकी सवारी निकली तो सारी औरतों का गर्व समाप्त हो गया कि इसने ठीक ही किया है। दोनों सुख से रहे।

यह प्रतिष्ठानपुर केवल प्रयाग के पास का ही प्रतिष्ठानपुर नहीं समझना। जिसमें सब चीजें प्रतिष्ठित हैं, वही प्रतिष्ठानपुर। है अधिष्ठान, जिसके अन्दर सब चीजें स्थित रहती हैं, प्रतिष्ठित रहती हैं वह अधिष्ठान ही प्रतिष्ठानपुर है। यहाँ पर पृथ्वीरूप राजा। यह जो जीव है यही पार्थिव देह वाला है। पृथ्वी के विकार का यह शरीर धारण किये हुए है। इसलिए यही पृथ्वीरूप राजा है। इसको वेदरूप भिक्षु मिलते हैं। वे कहते हैं 'हे जीव! तेरे प्राप्त करने लायक पराविद्या ही है, ब्रह्मविद्या ही है। वही तुम्हारी पत्नी बनने के योग्य है। इस पृथ्वी लोक के अन्दर जितने पदार्थ हैं, पार्थिव पदार्थ हैं, वे तेरे योग्य हैं नहीं क्योंकि तेरी सुन्दरता चेतन की सुन्दरता है। वह तो मुक्तिपुर में रहने वाली जो रूपलता है, वही तुम्हारे योग्य है। रूपलता ही यह पराविद्या है, ब्रह्मविद्या है। दोनों को मिलाने का काम करता है बौद्ध भिक्षु। बुद्धि ही वह साधन है जिससे वेद के अर्थ का ज्ञान होता है। बुद्धि के द्वारा जिसको समझा जाय, शुद्ध बुद्धि के द्वारा जिसको समझा जाय, शुद्ध बुद्धि के द्वारा प्राप्त किया जाय, वही बौद्ध ज्ञान है, बुद्धि से होने वाला ज्ञान है। वेद का श्रवण बुद्धिपूर्वक करना पड़ता है, विचारपूर्वक करना पड़ता है। अन्यथा वेद अपने रहस्य को प्रकट करता नहीं। अब जब जीव इस बात का निश्चय कर लेता है तो वह ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के लिए जाता है। ब्रह्मविद्या तो पहले से ही जानती है कि मैं किसका विषय हूँ। चेतन का ही विषय हूँ। इसलिए यह कभी नहीं समझना चाहिये कि मैं तो ब्रह्मविद्या को चाहता हूँ, क्या पता वह मुझे वरण करे या न करे। वह तो पहले ही तुम्हारा चित्र देखकर तुमको वरण किये हुए है। परन्तु जब तक उसके समक्ष नहीं जाओगे तब तक विवाह तो होगा नहीं। रास्ते में अनेक विघ्न आयेंगे। जैसे यहाँ पर गाँव की कोई औरत नहीं चाहती कि तुम गाँव को छोड़करके अन्यत्र से लड़की को लाओ। उसी प्रकार तुम्हारे अन्तःकरण में रहने वाले जितने काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मात्सर्य आदि विकार हैं, वे कोई नहीं चाहते कि तुम उन सबको छोड़कर शुद्ध ब्रह्मविद्या को प्राप्त करो। परन्तु एक बार वह पराविद्या आ गयी तो ये काम, क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि जितनी विकृतियाँ हैं इनका गर्व समाप्त हो जायेगा। ये म्लान हो जायेंगी।आत्मज्ञान के उदय होने पर ये सारे

विकार सर्वथा म्लान हो जाते हैं। इनकी कोई सामर्थ्य रहती नहीं। एक बार जहाँ ये सम्बन्ध हो गया, पराविद्या की प्राप्ति हो गयी, वहाँ हमेशा के लिए सारे दुःखों की निवृत्ति हो गयी।

जैसे वहाँ पर उसको समुद्र आदि पार करके जाना पड़ा परन्तु वह लगा रहा जब तक वहाँ नहीं पहुँच गया। उसी प्रकार जब तक पराविद्या की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक जो लगा रहता हैं उसे ही यह मिलती है। अब तक नहीं हुआ तो आगे नहीं होगा, कहाँ से होगा—ऐसे सोचने वाले का यह काम नहीं हैं। जैसे जिसके घरों में कभी व्यापार न हुआ होवे, वह जब नया-नया व्यापार खोलता है, दो-चार महीने उसमें नुकसान होता है। नये काम में पहले पहल नुकसान होता ही है। वह झट घबरा कर उस काम को बंद कर देता है और दुसरी दुकान करता है। उसमें भी नुकसान होता है तो उसे भी बंद कर तीसरी खोलता है। इस तरह एक के बाद एक नुकसान होता चला जाता है। सोचता है, पता नहीं किस काम में पैसा आ जाय। जो परम्परा से व्यापार करने वाला है वह दो-चार-महीने, साल-दो-साल का नुकसान होने पर भी काम छोड़ता नहीं। जानता है कि जमते-जमते ही काम जमता है। इस बात को समझता है कि इस व्यापार या उस व्यापार में नफा नुकसान नहीं है। जिस व्यापार में जम कर लगोगे वही अन्त में फायदा दे देगा। वह व्यापारी तो सफल हो जाता है। इसी प्रकार से जो पराविद्या की प्राप्ति के लिए निरन्तर लगा रहता हैं वह तो इसको प्राप्त कर लेता है। जो सोचता है 'इतने दिन सुना, कुछ नहीं हुआ, कुछ और साधन करे, शायद उससे हो जाय।' एक साधन से दूसरे साधन में, दूसरे साधन से तीसरे साधनों में भटकता रहता है, स्थिति को प्राप्त कर नहीं पाता। परन्तु जो प्रयत्नपूर्वक श्रवण साधन में लगा रहता है उसको यह पराविद्या प्राप्त हो जाती है। यहाँ पर कई पीढ़ियाँ दिखला कर यही बताया कि जो निरन्तर लगा रहता है उसे सिद्धि मिलती है। 'जन्म-जन्मान्तर में भी मैं तो श्रवणादि साधन में लगा रहूँगा क्योंकि निश्चित पता है कि ब्रह्मविद्या मुझे वरण कर चुकी है। मुझे उसकी प्राप्ति होनी है। केवल सामने पहुँच जाना है।' ऐसा श्रद्धालु ही तत्परता से साधनरत हो सकता है। इसलिये ब्रह्मा ने अथर्वा को दिया, अथर्वा ने अंगिर् को दिया, उन्होंने भारद्वाज को और उन्होंने अंगिरस् को दिया— इस प्रकार क्रम से बतलाया। इस विद्या की परम्परा आगे कैसे चली यह कल बतलायेंगे।

चतुर्थ प्रवचन

(२४ नवम्बर, १९८८)

अथर्व वेद की मुण्डकोपनिषद् का विचार प्रारम्भ किया था, जिसमें परा-विद्या का प्रतिपादन है। किस प्रकार से परम्परा के द्वारा श्रवण से यह ज्ञान प्राप्त होता है और किस प्रकार के अधिकार की प्राप्ति होने पर यह ज्ञान प्राप्त होता है यह बतलाया। ब्रह्मा ने अथर्वा को, अथर्वा ने अंगिर् को, अंगिर् ने सत्यवह भारद्वाज को और उन्होंने अंगिरस् को यह विद्या दी। "प्रवदेत" के द्वारा बतलाया श्रवण से ही ज्ञान होता है। परन्तु वह श्रवण दीर्घकाल तक करना पड़ता है। जब तक परमात्मा का साक्षात्कार न हो जाय तब तक प्रयत्न पूर्वक उसे करता रहे।

अब कहते हैं—

"शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरस विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥"

शौनक महाशाल थे अर्थात् अनेक मकानों वाले, सम्पत्ति वाले, बड़े भारी गृहस्थाश्रम के अधिपति थे। भाष्यकार कहते हैं "महाशालः महागृहस्थः"। वैसे तो शाल का मतलब होता है कमरा। अतः सीधा अर्थ होता है बड़े मकानों वाले। परन्तु श्रुति केवल अनेक मकानों की सम्पत्ति होने को बतलावे यह संभव नहीं। अतः महाशाल का अर्थ केवल अनेक मकानों वाला नहीं वरन् बड़े भारी गृहस्थाश्रम वाला। अर्थात् अनेकों का भरण पोषण करने वाला। शास्त्रों के अनुसार न ब्रह्मचारी को धन कमाने का अधिकार है, न वानप्रस्थ को है, न संन्यासी को है। धन कमाने का अधिकार केवल गृहस्थ को है। बाकी सब गृहस्थ पर आधारित रहते है। अतः गृहस्थाश्रम सब का पोषण करने वाला आश्रम है। गृहस्थाश्रम की विशेषता ही यह है कि वह सब का पोषण करे। अतः महाशाल का अर्थ हुआ जो अनेकों का पोषण करने वाला है। ऐसे शौनक महर्षि विधिपूर्वक जाकर प्रश्न पूछते हैं अंगिरस् से।

अब तक अंगिरस् पर्यन्त किसी ने प्रश्न नहीं पूछा था। न अथर्वा ने ब्रह्मा से पूछा, न अंगिर् ने अथर्वा से पूछा, न सत्यवह भारद्वाज ने अंगिर् से पूछा और

न अंगिरस् ने सत्यवह भारद्वाज से पूछा, अर्थात् यहाँ पर तो अपने ज्येष्ठ पुत्र या उत्तम शिष्य को गुरु अपनी तरफ से ही ज्ञान देता था। तो क्या केवल गुरु के ज्ञान देने पर ही प्रवृत्ति होती है ब्रह्मविद्या की ? इस शंका की निवृत्ति करने के लिए यहाँ श्रुति बतलाती है कि गुरु कृपा कर ज्ञान देवे यह भी होता है और यह भी कि शिष्य स्वयं इस विद्या की प्राप्ति के लिए प्रश्न करे, जिज्ञासु बने। दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का निरूपण करने के लिए यहाँ कह दिया "विधिवत् उपसन्नः पप्रच्छ।" प्राचीन काल के अन्दर स्वभाव से जो पुत्र या शिष्य हुआ करते थे वे अपने पिता के मार्ग पर, पिता के आदर्शों पर चला ही करते थे। वेदों के अन्दर एक सम्प्रत्तिकर्म आता है। जिस समय पिता मरने लगता है उस समय पुत्र को बुला कर कहता है 'आजतक जो मैंने व्रत पालन किया, आज तक जिन नियमों को मैंने निभाया, आज तक जो उपासनाएँ मैंने की, आज से उन सब को तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। तुम इनको आगे चलाते रहना। मैं अपने व्रतों को तुम्हारे ऊपर धारण कराता हूँ'। अर्थात् पुत्र न केवल पिताकी भौतिक सम्पत्ति लेता था वरन् उसके ज्ञान की सम्पत्ति भी लेता था। इसीलिए शास्त्रों के अन्दर जहाँ वित्त अर्थात् धन का विचार किया है, वहाँ कहा है वित्त दो प्रकार का है मानुष वित्त और दैव वित्त। जो हमने ज्ञान प्राप्त किया, जो हमने उपासना की, जो हमने शुभ व्रत आदि का आचरण किया वह सब हमारी सम्पत्ति है, वित्त है। उसको हमने पाया है।

मनुष्य योनि की विशेषता ही यह है। पिता से पुत्र और पुत्र से आगे पौत्र को ज्ञान की परंपरा प्राप्त होती है। इसीलिए मनुष्य जाति उन्नति कर पाती है। पशु इत्यादि जिस चीज को अपने जीवन में सीखते हैं वह उनके साथ ही समाप्त हो जाती है। अतः पीढ़ी दर पीढ़ी उन्हीं प्रयोगों को बार-बार दुहराया जाता है। मनुष्य अपने ज्ञान की परंपरा देता है। इसलिये जो अच्छाई या बुराई करके हमारे पूर्वजों ने सीखा वह हमको मिल जाता है। उसके आधार पर हम आगे उन्नति करते हैं। मानुष वित्त का भी यही हाल है। पिता ने अमुक स्थिति तक उन्नति की, उतनी उन्नति से हमने प्रारंभ किया तो हम और आगे चले गये। इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी उन्नति होती रहती है भौतिक धन की भी और आध्यात्मिक धन की भी। अतः पूर्वकाल के अन्दर अपनी विद्या को अपने पुत्र को देते ही थे क्योंकि पुत्र उस योग्यता को और उस जिज्ञासा को प्राप्त होता ही था। धीरे-धीरे

रागद्वेष बढ़ने लग गये। रागद्वेषादि के बढ़ने से आदर्श प्रधान नहीं रहा। जैसे स्वतंत्रता के पहले स्वतंत्रता की प्राप्ति करने के आदर्श को लेकर लोग राजनीति में प्रवेश करते थे, आदर्श था। वर्तमान काल में किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राजनीति में प्रवेश नहीं करते हैं, पद की प्राप्ति या धन की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति करते हैं। अर्थात् राग-द्वेष से प्रवृत्ति होती हैं। किसी आदर्श को लेकर प्रवृत्ति नहीं।

इसी प्रकार से प्राचीन काल में प्रत्येक व्यक्ति देखता था कि मेरी परंपरा के अन्दर इस ज्ञान को — इस सम्पत्ति को बढ़ाया गया है। इसी को हम आगे बढ़ावें। आज ठीक उससे विपरीत है। पिता यदि व्यापारी रहा है तो लड़का कहता है मुझे डाक्टर बनना है, इंजीनियर बनना है। मैं व्यापार नहीं करना चाहता। पिता डाक्टर रहा है, इंजीनियर रहा है तो लड़का कहता है मुझे व्यापार करना है। मैं डाक्टरी या इंजीनियरी करना नहीं चाहता। इसलिए भौतिक दृष्टि से भी पिता ने जो उन्नति की उसको आगे बढ़ाने की दृष्टि नहीं रह गयी। जिसमें मुझे आराम मिले, मुझे सुख मिले, मुझे कम परिश्रम करना पड़े, वह मुझे करना है। पिता ने जो आदर्श उपस्थित किया उसको आगे बढ़ाना है यह दृष्टि नहीं है। जब भौतिक वित्त में ही यह दृष्टि नहीं तो आध्यात्मिक वित्त में तो दृष्टि होनी कहाँ से है?

इसीलिये जब उसमें जिज्ञासा है ही नहीं तब आगे उसको उपदेश देना व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि जो जिज्ञासु नहीं उसको यदि उपासना का बोझ जबरदस्ती दोगे तो वह व्यर्थ चला चायेगा। जिसको जानने की इच्छा है उसी को तो दिया जा सकता है। अतः यहाँ उपनिषद् कहती है कि धीरे-धीरे जब रागद्वेष अधिक हो गया तो अंगिरस् महर्षि ने अपनी तरफ से उपदेश नहीं दिया।

जो साधना करना चाहता है, जो परमात्मा की प्राप्ति चाहता है, उसी को उपदेश देने से सार्थक होता है अन्यथा व्यर्थ हो जाता है। इसलिये जो कुछ लोगों का कहना है कि जबरदस्ती लोगों को अध्यात्म विद्या का उपदेश दिया जाये तो कुछ लाभ करेगा, वह गलत है क्योकि ऐसा उपदेश कुछ भी लाभ नहीं करेगा। जब तक हृदय में जिज्ञासा नहीं होगी तब तक साधना करने की प्रवृत्ति नहीं होगी। मन निरन्तर हर्ष और विषाद के चक्र में घूमता रहता है। भगवान्

वेदव्यास महाभारत के अन्त में कहते हैं, प्रतिदिन जीवन में प्रसन्नता के सैकड़ों स्थल आते हैं और दुःख के भी सैकड़ों स्थल आते हैं। कोई दिन ऐसा नहीं जब कोई न कोई दुःख की घटना न होवे और कोई दिन ऐसा नहीं जब कोई न कोई हर्ष की घटना न होवे। शिक्षित मन हर्ष के क्षणों को याद रखता है, शोक के क्षणों को भुला देता है। अशिक्षित मन शोक के क्षणों को याद रखता है, और हर्ष के क्षणों को भुला देता है। मोटे दृष्टान्त से समझ लो। शरीर में पसीना आ रहा है गर्मी का मौसम है। दुःख हो रहा है। अकस्मात् एक लू का झपट्टा आता है। जब पसीने से गीले शरीर पर लू का झपट्टा लगता है तो पहले दो तीन सेकेंड तक बड़े सुख का अनुभव होता है, ठंडक लगती है। फिर पसीना सूख जाने पर जो लू की लपट लगती है वह एक दम जलन हुई लगती है। अब विचार करो, दोनों अनुभव हुए, लू के लगने से ठंडक का भी अनुभव हुआ है और उसके बाद गर्मी का भी अनुभव हुआ। शिक्षित मन तो याद करता है कि कैसी अच्छी ठंडक हुई। और अशिक्षित मन याद रखता है कि कैसी जबरदस्त लपट लगी थी। अनुभव दोनों हम ही को हुए। परन्तु हमने अपने मन को अशिक्षित कर लिया है इसलिए दुःख की बात को याद रखते है, सुख को याद रखते नहीं। और जो अध्यात्म शास्त्र में चलने वाला व्यक्ति है वह इन दोनों को भुला कर दोनों में होने वाला जो एक अखण्ड ज्ञान है उसके प्रति जागरूक रहता है। सुख का भी ज्ञान हुआ है दुःख का भी ज्ञान हुआ है। केवल उस ज्ञान को वह पकड़ता है। सुख और दुःख दोनों को भुला देता है। इसलिए भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

"दिवसे-दिवसे मूढमाविशन्ति न पंडितम्।"

सुख और दुःख ये पंडितों के ऊपर अपना प्रभाव नहीं छोड़ते, मूर्खों के अन्तः-करण में प्रविष्ट होते रहते हैं। वर्तमान काल में तो इसको लोगों ने अपना धर्म बना लिया है। बुरा नहीं मानना। अगर कोई राजनीति का नेता सत्ता में है तो बड़ी से बड़ी बुराई को भी कह कहेगा 'यह कुछ नहीं है।' और यदि वही नेता विरोध में है तो बड़ी से बड़ी अच्छाई को कहेगा 'यह कुछ नहीं है।' अगर उसको कहा जाय 'अरे भाई ! ये अच्छाइयाँ हैं।' तो कहते हैं 'इनका कोई मूल्य नहीं। ये तो अपने आप हो जाती हैं।' दूसरे को कहो 'ये बुराइयाँ हैं।' तो कहता है 'ये तो सारे संसार में हो रही हैं। इसमें क्या है ?' इसीलिये निरपेक्ष विचार

किसी विषय में होता ही नहीं। और जो राजनीति में हैं वही हर एक घर में हो रहा हैं। यह नहीं समझ लेना कि केवल संसद में ही राजनीति चलती है। यदि मैंने कुछ करने को कहा और उसमें कुछ खराबी हुई तो वह करने वाले की गलती से हुई, हमने जो बात कही थी वह तो ठीक ही थी। और यदि दूसरे की बात को मान कर मैंने किया और कोई फायदा हुआ तो करने वाले ने ढंग से किया इसलिये हो गया, बात तो गलत ही थी। अर्थात् प्रत्येक घर के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति यह मान कर चलता हैं जो मैंने किया वह ठीक है और जो दूसरे ने किया वह गलत है। और घरों में भी राजनैतिक दल बन गये हैं, पार्टीज़् बन गई हैं। छोटा लड़का माँ के साथ है, बड़ा बड़का पिता के साथ है। आपस में बातें करते हुए ही पाता है यह मेरा साथ देगा, यह नहीं देगा। व्यापार में भी यही हाल है। सर्वत्र हमारे चिन्तन की प्रणाली के अन्दर जो निरपेक्ष भाव होना चाहिये वह कहीं रह नहीं गया है। और इसी कारण जीवन हमारा प्रतिदिन दुःखी होता जाता है। हर्ष और विषाद की स्थिति को देखकर जो विचारशील होगा वह उसका पता लगाना चाहेगा; उस बात को समझना चाहेगा, जो हमको इस निरपेक्ष दृष्टि को दे सके। इसी प्रकार प्रिय और अप्रिय, मान और अपमान, उन्नति और अवनति, संयोग-वियोग, सभी द्वन्द्वों में मन डोलता रहता है। जैसे घड़ी के नीचे लटका हुआ लम्ब, पेंडुलम, दायें-बायें चलता ही रहता है वैसे। हमारा मन हर्ष की तरफ जायेगा, विषाद की तरफ जायेगा, उन्नति की तरफ जायेगा, अवनति की तरफ जायेगा, प्रिय की तरफ जायेगा, अप्रिय की तरफ जायेगा, संयोग की तरफ जायेगा वियोग की तरफ जायेगा, मान की तरफ जायेगा, अपमान की तरफ जायेगा। हमेशा दोनों तरफ जायेगा। विवेकी जानता है कि जितनी दूर दाहिनी तरफ जाता है उतनी ही दूर बाई तरफ जाता है। यदि घड़ी ठीक से लटकी हुई न होवे और लम्ब एक तरफ ज्यादा चला जाये तो थोड़ी देर में घड़ी बन्द हो जायेगी। जब तक दाहिने-बायें एक जितना जायेगा तभी तक वह चलती रहेगी। इसी प्रकार जीवन के अन्दर हर्ष-विषाद आदि ये निरन्तर होते रहते हैं।

अपने अन्तःकरण को, अपने मन को ठीक प्रकार से बना लेना यह हमारे हाथ में है। अगर हम लम्ब की दोनों तरफ चलने की गति की दृष्टि रखेंगे तो हम विक्षिप्त नहीं होंगे। हमारा अन्तःकरण अस्थिर नहीं होगा। उस अस्थिरता से जब हम बचेंगे तब हमारे अन्दर वास्तविक जिज्ञासा उत्पन्न होगी। अर्जुन

विक्षिप्त हो कर जब भगवान् से लड़ाई न लड़ने की बात करता है तो भगवान् सबसे पहले उससे कहते हैं कि तू बातें तो बड़ी-बड़ी कर रहा है, लगता है मानों बड़ा पढ़ा लिखा है, बड़ा समझदार है, लेकिन लक्षण तुममें नहीं दीख रहे हैं।

"*गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।*" पण्डित पुरुष न मरे हुओं की चिन्ता कर सकता है, न जिन्दों की चिन्ता कर सकता है। जो मर गया वह तो मर ही चुका, अब उसकी चिन्ता क्या करेंगे ! अब चिंता करने से कुछ भी होगा नहीं, जो जिन्दा है वह तो जिन्दा ही है। उसके लिए अभी रोने की जरूरत नहीं है। उसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। विचार की दृष्टि से देखेंगे तो यही बात है। और जो पण्डित नहीं हैं वे दोनों की चिन्ता करते हैं। मर जायेंगे तो क्या होगा, नहीं मरेंगे तो क्या होगा? आदमी मर जायेंगे तो औरतों का क्या होगा ? मरने वालों की चिन्ता कि आदमी मर जायेंगे, नहीं मरने वालों की चिन्ता कि औरतें व्यभिचारिणी हो जायेंगी। यह पंडित का लक्षण नहीं है।

जीवन के अन्दर हमारे में वास्तविक जिज्ञासा इसीलिये उत्पन्न नहीं हो पाती, कि हम निरन्तर बाह्य जगत् को अपने मन के अनुकूल ही बनाते रहते हैं। हम साधना के बल से अपने अन्तःकरण की वृत्ति को स्थिर करना सीखना चाहते हैं, यही जिज्ञासा है। सुख-दुःख का अनुभव सब को हो रहा है, परन्तु एक उसके नैरन्तर्य को देख कर पाता है कि मैं अपने अन्तःकरण को कैसे बदलूँ, उस की जिज्ञासा है कि मैं कैसे बदलूँ। और दूसरे की जिज्ञासा है दुनियाँ कैसे बदले, बाहर का जगत् कैसे बदले। जो अपने को बदलना चाहता है, उसके लिये तो अध्यात्मविद्या काम करेगी और जो देखना चाहता है बाकी सब बदल जाय मैं जैसा हूँ वैसा ही बना रहूँ, उसके लिए अध्यात्मविद्या निरर्थक हो जाती है। हमारी सरकार प्रकाशित करती है सारी उन्नतियोंका लेखा-जोखा — सड़कें कितनी बनीं, उद्योग कितने बने, बिजली कितनी बनी, नहरें कितनी बनीं, परन्तु कहीं भी इसका लेखा-जोखा नहीं है कि सच्चे इंसान कितने बने। चालीस साल पहले जीवन के हर क्रम में उद्भट प्रतिभा वाले एवम् आदर्श के लिये बलिदान देने वाले लोग थे। वर्तमान काल में चाहे बाकी सब चीजों की उन्नति हुई हो, परन्तु अपने आदर्श की ओर चलने का प्रयत्न करने वाले नहीं — जैसे ही पैदा हो रहे हैं। आज के लोग सिवाय व्यवहार के, भोग के, सुखों के, कभी भी त्याग की बात नहीं करेंगे, बलिदान की बात नहीं करेंगे। यदि उनको नैतिक शिक्षा भी

दी जाये तो उनका जवाब होता हैं 'यह अव्यावहारिक है।' अर्थात् इससे वे सांसारिक संचय प्राप्त नहीं कर सकते। इसके द्वारा वे आध्यात्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकते हैं, इसकी तरफ तो वे विचार ही नहीं करना चाहते। अगर उनको कहें कि इससे कोई लौकिक फायदा होगा तब तो वे बात करने को, सुनने को तैयार हो जायेंगे। परन्तु अपनी आन्तरिक उन्नति भी किसी चीज से होती है इस तरफ उनकी कोई दृष्टि नहीं। इसीलिये आध्यात्मिक विद्या के क्षेत्र में उन्नति की संभावना नहीं रह जाती। समग्र प्रतिकूलताओं के होने पर भी हम किस प्रकार से आत्मशान्ति का अनुभव करें यह लोग चाहते हैं।

पहले एक दवात आती थी। उसके अन्दर एक इस ढंग का छेद बना होता था कि चारों तरफ स्याही भरी रहे और केवल बीच में एक बिन्दु पर तुम्हारी कलम जाये तो स्याही में लग जाये। उस दवात को उल्टा कर दो, टेढ़ा-मेढ़ा कर दो, तो भी स्याही कभी बाहर नहीं निकलती थी। इस ढंग की वह बनी हुई होती थी। जैसे वहाँ स्याही कभी बाहर नहीं निकलती थी क्योंकि उसके जो गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र था वह कभी बाहर नहीं जाता था। ठीक उसी प्रकार भगवान कहते हैं—

"यस्मिन् स्थिते न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।"

उस स्थिति को प्राप्त करना है जहाँ बड़े से बड़ा दुःख हमको विचलित करने में समर्थ नहीं होता। हम अपने जीवन के केन्द्र से कभी च्युत नहीं होते। बड़ी से बड़ी प्रतिकूलता की स्थिति के अन्दर भी यह अन्तःशान्ति बनी रहती है। इसको जानने के लिए जो प्रवृत्त है वही यहाँ विधिवत् उपसन्न कहा गया है। आधुनिक शिक्षा केवल चेतन मन के अन्दर परिवर्तन लाने का प्रयत्न करती है। अचेतन मन को छूती भी नहीं। मनुष्य के जीवन को चलाने वाला उसका अचेतन मन ही है। चेतन मन में तो वृत्ति क्षण भर के लिये आती है और वह जब आती है तो पुराने संस्कारों के वेग को लेकर आती है। जब तक चेतन स्तर पर तुम इसका नियंत्रण करोगे तब तक तो वह चेतन मन की वृत्ति कार्य कर चुकी होगी। यह अध्यात्मसाधना की चीज समझ लीजिये। हम लोग प्रायः जब काम, क्रोध का वेग आता हैं तब चाहते है इसका नियंत्रण करें। किसी चीज की इच्छा पैदा हो गयी अब इसको रोक लेवें। इच्छा की तीव्रता पैदा हो गयी, तो उसे नहीं रोक

सकते। अचेतन मन में इच्छा पैदा होने की जो संभावना है उसको नष्ट करना पड़ेगा। इसी प्रकार क्रोध आ गया और उसके बाद चाहो कि क्रोध को रोक लें, नियंत्रण कर लें, तो नहीं कर सकते। क्रोध तो आ ही चुका। बाहर वाणी से प्रकट न करें, इतना ही बहुत है। परन्तु उससे क्रोध तो खत्म हुआ नहीं। क्रोध चेतन मन में न आवे इसके लिए अचेतन मन के अन्दर अपने संस्कारों का परिवर्तन करना पड़ेगा। साधना का आधार तो चेतन मन है। साधना की तो जायेगी चेतन मन में परन्तु उसका असर डालना पड़ेगा अचेतन मन पर। काम, क्रोध आदि विकारों का वेग जब नहीं हो उस समय चेतन मन में साधना करनी पड़ेगी। पारिभाषिक दृष्टि से साधना का काल होगा जब अन्तःकरण में सात्त्विक गुण का उदय होवे। "सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्" सत्त्वगुण के बढ़ने पर ज्ञान होगा। जिस समय तुम्हारे अन्दर काम, क्रोध का वेग है उस समय तो रजोगुण बढ़ा हुआ है अन्तःकरण में। रजोगुण जब बढ़ा हुआ है तब वहाँ ज्ञान के संस्कार को उदय कराना चाहोगे तो कैसे होगा? अथवा जब तमोगुण बढ़ा हुआ है, आलस्य आदि हावी हुआ-हुआ है, उस समय चाहो 'हम ज्ञान करें', तो कैसे होगा? हम कहते हैं जब मन के अन्दर विकार आयेगा तब हम रोकने की साधना करेंगे और करना यह है कि जिस समय मन में कोई विक्षेप नहीं है, मन सत्त्वगुण वाला है, उस समय उसके ज्ञानों के संस्कारों को उद्दीप्त कर उसको अपने अचेतन मन में प्रवृष्ट करा दें। जिससे आगे रजोगुण उत्पन्न हो न सके। इसीलिये वैराग्य का अर्थ केवल जब मन किसी तरफ दौड़े तब उसको रोकना नहीं है। विषयों के दृश्यत्व, जडत्व, परिच्छिन्नत्व, मिथ्यात्व इत्यादि का नित्य निरन्तर प्रवाह मन में रखना है, जिससे हमारे अचेतन मन के अन्दर वैराग्य इतना दृढ हो जाये कि कामना का पदार्थ सामने आने पर अन्तःकरण की उसके प्रति स्वभाव से निवृत्ति होवे।

एक बार एक राजा जंगल में घूमने गया हुआ था। उसने व्याध के पास अनेक तोते देखे। उसमें एक तोता उसको बड़ा पसन्द आ गया। देखने में बड़ा सुन्दर तोता था, अच्छा था। राजा ने सोचा यह तोता मैं खरीद लूँ। राजा ने व्याध से कहा 'भाई! यह तोता तो मैं खरीदना चाहता हूँ, इसका क्या दाम है?' व्याध ने कहा 'अपनी कीमत यह खुद बतायेगा। मैं क्या बताऊँ।' राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने कहा 'अरे भाई तोते! तुम्हारा क्या मूल्य है?' सैंकड़ों

साल पहले बहुत सस्ती के जमाने की बात थी। उसने कहा 'मैं एक लाख रूपये का हूँ।' राजा ने कहा 'ऐसी क्या तुम्हारे में विशेषता है?' तोते ने कहा 'मैं तुम्हें ऐसी नीति की बातें बतलाऊँगा जो तुमको अन्त में अमरता की प्राप्ति करायेगी।' राजा को तोता पसन्द आ ही गया था इसलिए उस जमाने के लाख रुपये में उसने ले लिया। तोता सुन्दर था, घर में ला कर अपने सोने के कमरे में उसको टांग दिया पींजड़े में। सबेरे चार बजते ही तोता कहने लगता 'सबेरा हो गया उठो। राजन् अब उठ जाओ।' राजा की आदत तो देर से सोने की थी। राजा उससे कहा 'चुप हो जाओ।' वह कहे 'जी मुझे तुमने लाख रुपये में खरीदा है इसलिये मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा। तुमको सोने नहीं दूँगा।'

धीरे-धीरे राजा की आदत सबेरे उठने की हो गयी। अब जब राजा उठे तो वह, उससे कहे 'भजन करो। गुरु की शरणागति लो।' राजा कहे 'घूम आऊँ' वह कहे 'पहले भजन करो फिर घूमने जाना।' धीरे-धीरे राजा का आलस्य हटने लगा। भजन करने लगा, गुरुओं की सत्संगति में जाने लगा। उसकी शुभ प्रवृत्ति होने लगी। मनुष्य आदतों का पुंज है। किसी भी चीज को यदि पहले तुम करोगे तो धीरे-धीरे वह आदत बन जायेगी, फिर वही चीज अच्छी लगने लग जायेगी। भारत से कोई व्यक्ति विदेश में जाता है तो उनके यहाँ भोजन के अन्दर तीन-चार सब्जियाँ उबालकर रख देंगे, केवल उबाल कर। नमक और काली मिर्च डिबिया में रख देते हैं। जितनी इच्छा हो उतना छिड़क लो और खा लो। पहले पहल वह भोजन बिलकुल निःस्वाद लगता है। खाने की इच्छा नहीं होती। अच्छा नहीं लगता। परन्तु यदि वहाँ पर तुम दो-चार साल रह जाओ तो सब्जियों के अपने स्वाद का ज्ञान हो जाता है। हम लोगों को सब्जियों के स्वाद का पता नहीं लगता। इसीलिए प्रायः खाते हुए आदमी पूछता है किस चीज का साग बना है। गजब हो गया! तुम खा रहे हो और पूछ रहे हो किस चीज का साग बना है! क्योंकि तुमको मिर्च मसाले के स्वाद का तो पता है उस सब्जी के स्वाद का तो पता ही नहीं है। सब्जियों का अपना स्वाद है। अब धीरे-धीरे जब उसको खाने की आदत पड़ती है तो स्वभाव हो जाता है। जब वहाँ से वापस यहाँ आता है और मिर्च मसाले का भोजन उसके सामने आता है तो फिर उसकी आदत नहीं रह जाती। स्वभाव ही तो है, आदत ही है। जिस चीज की आदत डाल लो।

इस बात को जो जानते हैं वे तो अपने बच्चों को छोटी उम्र में ठीक संस्कारों की आदत डाल देते हैं। हम लोग गलती यह करते हैं कि जिस समय बाँस को मोड़ना चाहिये उस समय तो मोड़ते नहीं। जब ठूँठ खड़ा हो जाता है तब हम उसको मोड़ने का प्रयत्न करते हैं। वह टूट जायेगा, मुड़ेगा नहीं। इसी प्रकार बच्चों की शिक्षा कब शुरु होनी चाहिये? गर्भ में बच्चा आये उसके पहले। हमारे यहाँ बतलाया है यदि तुम चाहते हो एक वेद का जानने वाला पुत्र उत्पन्न होवे तो क्या खाओ। यदि तुम विद्वान् लड़की पैदा करना चाहते हो तो क्या खाओ। क्योंकि उस समय जो तुम खाओगे उसके अनुसार जो तुम्हारे रक्त के अन्दर संस्कार आयेंगे उससे संतति के संस्कार बनने हैं। अतः गर्भाधान एक संस्कार है जिसकी तैयारी करनी पड़ती है। तब योग्य संतति आयेगी। अब हम कहते हैं अठारह साल के बच्चे को 'अब तू सीख।' वह तो सीख चुका जो कुछ सीखना था। हमारे कुल सोलह संस्कार हैं। प्रत्येक हिन्दु के सोलह संस्कार होते हैं। उसके अन्दर उत्पत्ति के समय का गर्भाधान, फिर छठे महीने का पुंसवन आठवें महीने का सीमन्तोन्नयन, फिर पैदा होने पर जातकर्म, ग्यारहवें दिन नामकरण, फिर छठे महीने में अन्नप्राशन और साल के अन्त में चूडाकर्म। अर्थात् एक साल में सात संस्कार हो जाते हैं और बाकी जीवन भर में नौ संस्कार होने हैं। अर्थात् बच्चे को संस्कृत करने का समय वह प्रारंभिक शैशव है। आज उस समय में हम सोचते हैं कि बच्चे पर कुछ संस्कार पड़ता ही नहीं। नतीजा यह होता है कि जब बड़ा हो जाता है तब कहते हैं 'जी ये मानते नहीं, क्या करें?' जब मनवाने की उम्र थी तब तो मनवाया नहीं, अब पछताने से क्या लाभ?

तोते ने प्रवृत्ति करायी। धीरे-धीरे उसका स्वभाव हो गया, आदत हो गयी। जब तोते ने देखा कि इनके स्वभाव कुछ सुधर गये तो एक दिन कहने लगा 'राजन्! जैसे तुम मनुष्यों के राजा हो वैसे ही मैं तोतों का राजा हूँ। व्याध ने पकड़ लिया यह प्रारब्ध है। यदि तुम कुछ दिन के लिए मुझे जाने दो तो मैं जाकर अपने योग्य संतान को राज्य का कार्य संभलवा कर वापस आऊँगा और आते हुए तुम्हारे लिये कुछ विशेष चीज लेकर आऊँगा।' राजा का तोते पर बड़ा प्रेम था। राजा ने कहा 'अरे मत जा भाई, तू वापिस आयेगा नहीं। एक बार जाकर कौन आता है?' उसने कहा 'राजन्! ऐसी बात नहीं है। संसार सत्य के द्वारा ही स्थित है। इसलिये मैं सत्य का त्याग करने वाला नहीं हूँ।'

राजा ने उसे जाने दिया। अब उसके उपदेशों के कारण राजा में जो सुधार हो रहा था उससे उसके जो दरबारी थे उनका नुकसान हो रहा था। दरबारियों का तो फायदा तभी होवे जब तुम दुष्कर्म करो। एक बार एक सज्जन किसी अफसर के बारे में कह रहे थे 'बड़ा ही गया-बीता अफसर है।' हमने सोचा होगा, अफसर अच्छे बुरे सब होते हैं। अगला वाक्य वह कहता है 'किसी से कुछ भी लेता नहीं। अपना आत्मकल्याण कर रहा होगा, लोगों का तो बंटाढार कर देता है।' यह हम सबकी आधारभूत सोचने की प्रवृत्ति है। बुरा नहीं मानना। इसीलिये हम उसको अच्छा मानते हैं जो हमारा काम करे। उसको अच्छा नहीं मानते जो ठीक काम करे। जब राजा ऐसा आचरण करता है तो लोग कहते जरूर हैं 'जी देखे बड़े-बड़े लोग, सब स्वार्थी हो रहे हैं।' परन्तु यह नहीं सोचते कि वह स्वार्थी-स्तर पर इसलिए पहुँचा हुआ है कि पहले हम स्वार्थी हैं। हम सोचते हैं कौन सा आदमी हमारा काम करेगा? यह नहीं सोचते हैं कौन सा आदमी ठीक काम करेगा। जब तक हम भ्रष्ट नहीं होंगे तब तक राजा भ्रष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार से दरबारी तभी लाभ उठा सकते हैं जब राजा स्वयं गलत काम करे। खाना-पीना, सब में समझ लो। अब जब तोता चला गया तो वे राजा को उल्टा भरने लगे कि यह तोता तो तुम्हारे महान् नुकसान का कारण है। इसलिये उससे सावधान रहना चाहिये। तोते को आये तो कुछ साल हुए थे और दरबारी पुराने थे। और वैसे भी कुछ संसार का स्वरूप ही ऐसां है कि बुरी बात की तरफ मन जल्दी जाता है, अच्छी बात की तरफ कठिनाई से जाता है। राजा के मन में भी जँच गया 'अरे यह तोता इतना अच्छा नहीं है।'

अपना कार्य पूरा कर कुछ महीनों में तोता वापस आ गया। उसने कहा 'राजन्! ये दो फल मैं लाया हूँ इसको तुभ खा लोगे तो तुम्हारे शरीर इत्यादि सब बिलकुल नये हो जायेंगे। ये 'अमृत फल हैं।' अब इस बीच संस्कार तो उल्टे डाल दिये गये थे। राजा ने लेकर फल दोनों रख दिये। खाये नहीं। सोचा बाद में देखेंगे। रात्रि के समय एक सर्प आया। अमृत फल को पहचान लिया और उसने अमृत फल के एक हिस्से को खाया। उसके खाने से उसका जहर उस हिस्से में चला गया। अगले दिन राजा ने सोचा कि फल का परीक्षण करावें। पुराने जमाने में कोई भी चीज खाने की हो तो राजा इत्यादि उसका परी-क्षण कराते थे। वह जो सर्प का खाया हुआ फल था, वही एक कुत्ते को खिला

दिया। कुत्ता मर गया। अब राजा को पहले कुसंस्कार तो पड़े हुए थे ही उसको निश्चय हुआ 'अरे यह देखो मेरे को मारने के लिए लाया था। अच्छा हुआ मैंने नहीं खाया।' साथ में दरबारियों ने और जमा दिया उसको। उन्होंने कहा 'अरे इस तोते को मार डालो। कितना भी प्रिय होवे लेकिन जब हमारे ऊपर घात करने वाला है तो यह ठीक नहीं।' तोते ने समझाया 'राजन्! ऐसा मत करो।' परन्तु राजा को कहाँ जँचना था। तोते को उसी समय मरवा करके फेंक दिया गया। दूसरा फल वहाँ पड़ा हुआ था। राजा के घर में एक बुढ़िया काम करती थी। उसको अतिसार हुआ था। उसको उन सब किस्सों का पता नहीं था। उसको बड़े जोर से भूख लगी हुई थी। उसने वह दूसरा फल खा लिया और ओढ़ कर सो गई। थोड़ी देर के बाद वह उठी तो बिलकुल उसका शरीर नौजवान हुआ हुवा और बड़ा ही सुन्दर रूप बना हुआ था। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ, यह क्या हो गया?। उससे पूछा 'अरे हुआ क्या?' बोली 'जी भूख बड़ी जोर से लगी हुई थी अतिसार के रोग से पीड़ित थी, इसलिये राजा जी का फेंका हुआ फल उनके कमरे में था वह मैंने खा लिया।' अब राजा को पता लगा अरे, यह तो तोते ने ठीक कहा था। हो न हो जो वह पहला फल था वह किसी दोष के कारण खराब हो गया। कुत्ते को खिलाने वाले से पूछा 'अरे जो फल था वह पूरा था।' उसने कहा 'नहीं जी वह थोड़ा सा कटा हुआ था किसी का खाया हुआ था। मैंने सोचा इसी का परीक्षण कर लूँ।' यह पता लगने पर राजा बड़ा दुःखी हुआ। सोचा बड़ा नुकसान हो गया। लेकिन अब क्या हो सकता है।

यह केवल एक राजा की कथा नहीं समझना। जीव ही राजा है। अपने शरीर के इन्द्रिय मन इत्यादि सब का यही तो राजा है। इसीलिए इसको रथी बतलाया है कठोपनिषद् में। वेद ही तोता है। कभी दक्षिण भारत में मीनाक्षी मदुरै में जाओगे तो भगवती के हाथ में तोता है। तोता वेद है। वेदरूप तोता कभी इसको मिल जाता है। यह अमूल्य धन है। वेद का मूल्य गुरुरूप व्याध ने कहा था — 'मैं नहीं जानता। यह तो खुद ही अपना मूल्य बतलायेगा। अमूल्य धन है।' वह हमको शुभ कर्मों में प्रवृत्त करता है। अगर एक बार हमने वेद को अंगीकार किया, स्वीकार किया तो वह हमको सारे शुभ कर्मों में प्रवृत्त करता है। वह तोता हमको (प्रतीक रुप) दो फल देता है। दोनों अमरता देने वाला है। धर्म और मोक्ष। ये दोनों अमरफल हैं। धर्मवाला जो अमर फल है

उसको कामनारूप सर्प डँस लेता है। कामनारूप सर्प का जहर धर्म में मिल जाता है। इसलिये जो धर्म हमको अन्तःकरण शुद्धि के द्वारा अमर बनाने वाला होता है, हमको स्वर्गादि फल देने वाला हो जाता है। कामना के प्रवेश से सकाम हुआ ही वह नुकसान दे देता है। अन्यथा धर्म की बराबरी नहीं है।

दूसरा फल मोक्ष फल है। जिस प्रकार वृद्धा ने उसको ग्रहण किया, उसी प्रकार जो बुद्धि भली प्रकार से साधनाओं से पक कर वृद्ध हो गई है, वह उसको ग्रहण कर मोक्षरूप फल को प्राप्त कर लेती है। धर्म के द्वारा हमको अनन्त शान्ति की प्राप्ति नहीं हो पा रही। कामना के कारण इस बात को न समझ कर हम वेद में आये हुए मोक्ष के मार्ग को सोचते हैं 'अरे धर्म से ही नहीं, हुआ तो इससे क्या होना है?' हम धर्म को करके बार-बार देखना चाहते हैं हमारी कामना पूर्ण हुई कि नहीं। हमारा अन्तःकरण शुद्ध हुआ कि नहीं यह तो देखते नहीं। अगर बेटी पैदा हो गयी तो सोचते हैं 'हमने इतना भगवान् का पूजन किया, यह तो बेटी पैदा हो गयी। बेटा पैदा होना चाहिए था।' वहीं से मन गड़-बड़ाता है। तबियत खराब हो गयी, 'अरे हम इतना भजन करते हैं, हमारी तबि-यत खराब हो गयी। भजन करने से क्या होता है। कुछ भी नहीं।' और साथ वाले भी गायेंगे कि जी बड़े-बड़े लोगों ने भजन किया और ऐसे के ऐसे रह गये। यह सब कुछ नहीं, अंधविश्वास है।' तो बार-बार चूँकि हम इहलोक के फल को देखते हैं, कामना के जहर वाले को देखते हैं और वहाँ पर तो मृत्यु होनी ही है। अतः जो परम फल है उसकी तरफ हम जा नहीं पाते। जो शौनक की तरह उस परम फल की इच्छा वाला है वही विधिपूर्वक जाकर पूछता है। कैसे पूछता है — इस पर आगे विचार करेंगे।

पञ्चम प्रवचन

(२५ नवम्बर १९८८)

अथर्ववेद की मुण्डकोपनिषत् के आधार पर पराविद्या का विचार प्रारम्भ किया। सबसे पहले ब्रह्मा ने इस तत्त्व का उपदेश अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को दिया क्योंकि वह ब्रह्मविद्या सारी विद्याओं की प्रतिष्ठा है, कोई भी विद्या इस विद्या के बिना पूर्ण नही होती और यह विद्या बिना किसी अन्य विद्या के स्वतः पूर्ण है, इसलिए यह सारी विद्याओं की प्रतिष्ठा है। आगे अथर्वा ने अंगिर् को, अंगिर ने सत्यवह भारद्वाज को, सत्यवह भारद्वाज ने अंगिरस् को यह विद्या दी। यहाँ तक गुरु ने स्वतः कृपा कर शिष्य को यह ज्ञान दिया। इसके बाद शौनक महर्षि अंगिरस् के पास जाकर विधिवत् इस विद्या को प्राप्त करने में प्रवृत्त हुए। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि जो यहाँ पर उपसदन की विधि की है, वह हम जो सामान्य मानव हैं, उनके लिए इष्ट है। अर्थात् बिना इस प्रकार की प्रवृत्ति के इस ज्ञान की उपलब्धि जैसे महर्षियों को स्वतः हुई वैसे हमें होती नहीं, बिना जिज्ञासु बने हुए ब्रह्मविद्या का हमें उपदेश व्यर्थ जाता है। इसलिये बिना जिज्ञासा किये हुए गुरु उपदेश देता नहीं। यह जिज्ञासा, जानने की इच्छा, कैसे उत्पन्न होती है? गुरु के पास जाया जाता है। मनुष्य के अन्दर इच्छा स्वाभाविक है, स्वाभाविक ढंग से वह प्रत्येक पदार्थ की इच्छा करता रहता है। परन्तु वह पाता है कि जिस चीज़ की इच्छा करता है, वह चीज़ जब मिलती है तब जैसा सुख उससे सोचा था वैसा सुख तो होता नहीं, उल्टा कुछ न कुछ दुःख हो जाता है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं—

'तापान्तत्वाद् अनित्यत्वाद् आत्मार्थत्वाच्च या बहिः।'

'तापान्तत्वात्' प्रत्येक पदार्थ अन्त में ताप ही देता है, दुःख ही देता है। दुःख देना यह पदार्थों का स्वभाव है। प्रारम्भ में वे जितने भी सुखदायी प्रतीत होवें, अन्त-तोगत्वा वे दुःख में परिणत हो जाते हैं। किसी भी पदार्थ को देखो, उसके मिलने पर पहले क्षण में जितना सुख होता है उतना सुख कुछ क्षणों के बाद रहता नहीं। बाहर से गर्मी में आप कमरे में आये और बिजली का पंखा चला दिया। सुख की प्रतीति होती है। परन्तु जितना सुख प्रथम क्षण में होता है उतना सुख पाँच

मिनट के बाद नहीं। इसी प्रकार कोई भी अच्छी से अच्छी स्वादिष्ट चीज़ हो, उसको आप खाते हैं तो पहले कौर में जो स्वाद है वह बीसवें कौर में नहीं रह जाता। पदार्थों की सुखरूपता घटती जाती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है और यदि उसके बाद उस पदार्थ की अनुवृत्ति दीर्घकाल तक चलती है तो 'तापान्तत्वात्' वह कष्ट देने लग जाता है। बाह्य विषयों के अन्दर जो तुम्हारी प्रीति है उसको वहाँ से हटाकर यदि परमात्मा में लगा दिया जाये तो कभी भी वह ताप में, दुःख में परिणत होती नहीं। आदमी सब चीजों से ऊबता है परन्तु कभी अपने आप से नहीं ऊबता है। आत्मा के लिए जो प्रीति है वह हमेशा एक जैसी बनी रहती है। उसमें कभी कमी नहीं आती। परन्तु बाह्य जितने पदार्थ हैं वे सारे के सारे अन्त में ताप में परिणत हो जाते हैं, कष्ट में परिणत हो जाते हैं।

दूसरा दोष कहा 'अनित्यत्वात्' जितने बाह्य पदार्थ हैं वे सब अनित्य हैं, इसलिये उनसे एक न एक दिन अपना वियोग अवश्यंभावी है। कोई भी चीज होगी वह नष्ट हो जायेगी और आत्मा स्वरूप से नित्य होने के कारण एक जैसा बना रहता है। इसलिये उन चीजों की जो प्रीति है उसमें स्थिरता संभव नहीं। तीसरा दोष है कि संसार की जितनी चीज़ें प्रिय होती हैं वे 'आत्मार्थत्वात् च' आत्मा के लिए ही प्रिय होती हैं। आत्मा नित्य भी है उसका ताप में अन्त भी नहीं होता और वह अन्य किसी का शेष भी नहीं है, वह किसी अन्य चीज़ के लिये प्रिय नहीं। रसगुल्ला अपने लिये प्रिय है। रसगुल्ला मुझे खाने को मिले, अतः अपने लिये प्रिय है। स्वरूप से रसगुल्ला प्रिय नहीं हो सकता। दूसरे को खाने को मिले इससे तुमको तो प्रियता का अनुभव होगा नहीं। टेलीविजन दूसरे को देखने को मिले इससे तो प्रियता का अनुभव नहीं होगा, मुझे देखने को मिले तभी प्रसन्नता होगी। इसलिये जितने पदार्थ हैं वे सब आत्मा के लिये हैं। आगे आत्मा किसी के लिये नहीं, वह तो स्वतः है। इसलिये बाकी सब चीज़ों के अन्दर सातिशय प्रीति होती है, एकमात्र आत्मा में ही निरतिशय प्रीति संभव है।

इन तीन कारणों से—

'तामात्मन्युपसंहृत्य सत्यार्थी गुरुमाश्रयेत् ॥'

उस प्रीति को, उस इच्छा को, उस प्रेम को, जो संसार के सब विषयों में फैला हुआ है. बटोर कर '*आत्मनि*' परमात्मा में ही उस प्रीति को केन्द्रित कर देना है। जब इस प्रकार से परमात्मा ही सर्वाधिक प्रिय हो जाता हैं तब 'सत्यार्थी गुरु-

माश्रयेत्' उस परमात्मा का जो वास्तविक रूप है, उसको जानने के लिये गुरु की शरण में जाये। अगर उसका प्रेम संसार के पदार्थों में बँटा हुआ है, अगर परमेश्वर में उसकी निरतिशय प्रीति है नहीं, तो वह परमात्मा के सत्यरूप की अर्थिता वाला रहेगा ही नहीं, क्योंकि जिस चित्त के अन्दर विषयों की तरफ जाने की चंचलता बनी हुई है वह चित्त गूढ रहस्य की बात में टिक नहीं सकता। लोक में भी रास्ते में चल रहे हो, सड़क देखते हुए दूसरे से गप्प मार सकते हो, परन्तु अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा— माइक्रोस्कोप के द्वारा— जिस समय तुम किसी सूक्ष्म वस्तु को देख रहे हो, रक्त का परीक्षण करते हुए उसमें मलेरिया के कीटाणु (पैरासाइट) हैं या नहीं यह देखने का प्रयत्न कर रहे हो, उस समय इधर-उधर की गप्प मार सकते हो क्या? उस समय तो चित्त को एकाग्र करना पड़ेगा और यदि चित्त अनेकाग्र रहा तो वहाँ पर होंगे मलेरिया के कीटाणु और तुमको पता ही चलेगा नहीं। अथवा सुल्मा सितारे की छोटी सुई होती है, तो क्या रास्ते चलते हुए जब एक तरफ से ट्रक आ रहा है एक तरफ से डी.टी.सी. की बस आ रही है, उनके बीच में खड़े होकर उसमें धागा पिरो सकते हो क्या ? सर्वथा जहाँ चित्त उसी में लगे, ऐसे कोने में खड़े होकर ही पिरोना पड़ेगा। जो विषय जितना सूक्ष्म होता हैं उसके लिये उतनी ही चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है। परमात्मा सबसे सूक्ष्मतम विषय है अतः इसको समझने के लिए वृत्ति की भी परम एकाग्रता आवश्यक है। वृत्ति यदि अनेकाग्र होती है, इधर-उधर चल रही होती है, तो परमात्मा का विषय समझ में आता नहीं। बहुत से लोगों की शिकायत होती है 'जी यह बहुत बड़ी बात है, हमारी समझ में नहीं आई'। आत्मा का विषय किसी भी व्यक्ति की समझ में न आवे यह असंभव है। कारण इसका यह है कि आत्मा तो तुम्हारे लिये नित्य अनुभव का विषय है। हमेशा तुमको इसका अनुभव हो रहा है। इसलिये जब इसको बतायेंगे तो समझ में नहीं आये यह नहीं हो सकता। समझ में इसलिये नहीं आता है कि वृत्ति एकाग्र न हो कर इधर-उधर हिल जाती है। भाष्यकार इसीलिये कहते हैं कि अन्यत्र से चित्त समेट कर उसे आत्मा में ही एकाग्र कर, उपसंहृत कर, तब सत्य को समझने के उद्देश्य से श्रवण करने के लिये गुरु का आश्रयण ले।

गुरु का आश्रयण करने के पहले गुरु को ढूँढना पड़ता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'आचार्यश्च ऊहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्रहादिसम्पन्नः ।'

प्रश्न होता है कि क्या आचार्य को कहा जा रहा है कि वह ऐसा बने ? गुरु तो कृतार्थ है उसके लिए तो विधि है नहीं । विधि उसी के लिये की जा सकती है, नियम उस के लिये बनाया जा सकता है जिसका कोई कर्तव्य बाकी हैं । दोनों बातें नहीं हो सकतीं कि कृतकृत्य भी हैं और फिर कृत्य अर्थात् कर्तव्य हैं भी । कृतकृत्य का मतलब होता है जो भी कृत्य है, जो भी कर्तव्य है, वह उसने कर लिया । अतः दोनों बातें नहीं हो सकतीं । मेरे कर्तव्य पूरे हो गये और मेरा कर्तव्य बाकी है — ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं । यदि कर्तव्य पूरा हो गया तो बाकी नहीं और अगर कर्तव्य बाकी है तो अभी पूरा नहीं हुआ । कृतकृत्य है तो कर्तव्य नहीं और कर्तव्य हैं तो कृतकृत्य नहीं । लोक में यह भूल प्रायः करते रहते हैं । लड़की का ब्याह को गया तो कहते हैं 'बस अब लड़की का ब्याह कर दिया अब कृतकृत्य हो गये, अब मेरे सिर का बोझ उतर गया ।' साल भर के बाद हम पूछते हैं 'क्या बात है, कई दिन आये नहीं ?' बोलते हैं 'जी लड़की के बच्चा होना था, वह घर आयी हुई थी ।' हम पूछते हैं 'तो आयी होवे, तुमसे क्या मत-लब ?' कहते हैं 'नहीं, वह तो ज़रा देखना ही पड़ता है ।' उनसे पूछो ' तुम तो साल भर पहले ही कह रहे थे कि कृतकृत्य हो गये । अब मेरा बोझ उतर गया । फिर बोझा आ कहाँ से गया ?' फिर दस साल के बाद दोहिती की शादी होने का समय आया तो फिर अब उसका भात भरना है, मायना करना है । अतः लोक में जब आदमी कहता है मैं कृतकृत्य हो गया तो उसका मतलब कुछ नहीं होता । उसका मतलब केवल यह है कि तुरन्त एक दो दिन में अब हमारे लिये कोई कर्तव्य नहीं है । ऐसी कृतकृत्यता पराविद्या नहीं देती । यह तो ऐसी कृतकृत्यता दे देती है जिसके बाद कभी भी कोई कर्तव्य फिर रह नहीं जाता । अतः जब आचार्य के नियम बतला रहे हैं, तो आचार्य के लिये नहीं बतला रहे हैं । शिष्य को कहा जा रहा है कि ऐसे आचार्य का अन्वेषण करो । ऐसे आचार्य के पास जाओगे तब ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होगी ।

आचार्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा—

'ऊहापोहग्रहणधारणशमदमदयानुग्राहादिसम्पन्नः ।'

'ऊह' कहते हैं शिष्य के हृदय में जो प्रश्न होवे उसको वह उसके मुख इत्यादि की आकृति को देख कर भाँप लेवे । शिष्य के लिये अपने प्रश्न को प्रकट करना

सब समय संभव नहीं होता। मनुष्य के हृदय में अनेक प्रश्न बिलबिलाते रहते हैं। उन प्रश्नों का आपस में कोई सम्बन्ध भी नहीं होता। कुछ भी प्रश्न किसी भी प्रश्न के साथ आते रहते हैं। प्रवचन के बाद अगर लोगों से पूछा जाये 'भाई! तुम्हे कोई सवाल होवें तो पूछ लो।' तो हमने कई बार अनुभव कर देखा है, वे लोग जो प्रश्न करेंगे उनका प्रवचन से कोई ताल्लुक नहीं रहेगा। कुछ भी प्रश्न पूछेंगे, क्योंकि निरन्तर प्रश्न तो चित्त में बिलबिला रहे हैं। इसलिये किसी भी समय कोई भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है, सामने आ जाता है। प्रश्नों का जवाब तभी दिया जा सकता है जब प्रश्न सम्बद्ध हों। जिस विषय में प्रश्न उठ रहा है उस विषय से सम्बन्धित प्रश्नों का जवाब देंगे तब तो वह प्रश्न हल होगा। उसका विषय तो समाप्त होगा, उस बारे में तो निश्चय होगा। अन्यथा यदि असम्बद्ध प्रश्नों का विचार करने लगोगे तो कभी भी किसी भी विषय में अन्तिम निर्णय पर पहुँचोगे नहीं। शिष्य प्रश्न कर नहीं पा रहा है। प्रश्न उसके हृदय में है। वह तो किसी असम्बद्ध प्रश्न को कर लेगा परन्तु 'इस विषय में इसका कौन सा प्रश्न सम्बद्ध है' इस बात की ऊहा करनी पड़ती है। और यदि केवल ऊहा की, उसके प्रश्न को जाना, तो भी काम नहीं बनेगा। अपोह — उस प्रश्न का क्या समाधान है। शिष्य के हृदय के प्रश्न की निवृत्ति आवश्यक है। यही उपासना के उपदेश में, कर्म के उपदेश में और ज्ञान के उपदेश में फर्क है। कर्म के उपदेश में तो 'तुम ऐसा करो' इतना काफी है। उसके विषय में तुम्हारे प्रश्नों का जवाब देने की ज़रूरत नहीं है। 'ऐसा करो, ऐसा फल उत्पन्न होगा' बस यही उपदेश है। 'कैसे करें !' यह प्रश्न तो हो सकता है परन्तु 'ऐसा ही क्यों करें?' यह प्रश्न नहीं हो सकता। जैसा बाह्य कर्म में वैसा ही उपासना रूप आन्तरिक कर्म में। ऐसे ध्यान करो, ऐसा मानसिक अभ्यास करो। जैसा कहा जा रहा है वैसा करने पर अमुक फल उत्पन्न होगा। 'वैसा ही करने पर फल क्यों उत्पन्न होगा?' इसका कोई न प्रश्न बनता है न उत्तर बनता है। अगर कोई पूछे जी पानी पीने से ही प्यास क्यों बुझती है? लड्डू खाने से प्यास क्यों नहीं बुझती। गले के नीचे तो दोनों चीजें उतरती हैं। क्या जबाब दिया जा सकता है? लड्डू खाकर देखो, इससे प्यास मिटेगी नहीं। पानी पीकर देखो, प्यास मिट जायेगी। इसलिए कर्म और उपासना के मार्ग में ऊहापोह की आवश्यकता नहीं है। वहाँ तो जैसा कहा गया है वैसा करना है। परन्तु ज्ञान के अन्दर तो प्रश्न भी बनता

है और उसका समाधान भी बनता है। क्योंकि यहाँ करना नहीं है। यहाँ तो जो चीज़ जैसी वास्तविक है वैसा ही उसको समझना है। अतः कर्म और उपासना में वास्तविकता का विचार नहीं है। उसकी वास्तविकता तो तुम जब करोगे तब पैदा होगी। सत्य बोलोगे तब सत्यवदन उत्पन्न होगा। ऐसे तुम ब्रह्म को जानोगे तब ब्रह्म उत्पन्न होगा ऐसा नहीं है। वह तो वास्तविक पदार्थ है। इसलिये उसके विषय में ऊह और अपोह दोनों आवश्यक हैं।

ग्रहण अर्थात् शिष्य जो बात कहे उस बात को ग्रहण करने की, समझने की भी सामर्थ्य होनी पड़ती है। संसार के अन्दर अनन्त अनुभव प्रत्येक व्यक्ति के किये हुए हैं। उन सब अनुभवों का पराविद्या के साथ सामञ्जस्य है। मोटे दृष्टान्त से समझो— रस्सी में एक समय में एक व्यक्ति ने साँप देखा, दूसरे ने डंडा देखा, तीसरे ने भूछिद्र देखा, चौथे ने माला देखी, पाँचवें ने जलधारा देखी। अब जितनी चीज़ें देखी गई हैं उनका रस्सी के साथ सामञ्जस्य है। इधर का रस्सी का हिस्सा आगे की तरफ बढ़ा हुआ था इसलिए साँप जैसा दीखा। रस्सी चक्राकार पड़ी हुई थी इसलिए माला जैसी दीखी। रस्सी टेढ़ी-मेढ़ी पड़ी हुई थी इसलिए जलधारा रूप से दीखी। रस्सी जब अनेक रूपों से दीखती है तो सबका उससे सामंजस्य है और जिसे जिस रूप में दीखी है उसे उस रूप का सामंजस्य समझाना पड़ेगा। किसी को रस्सी दीखी साँप की तरह और उसको तुम समझाते रहो कि यह रस्सी माला की तरह कैसे दीखी तो वह कहेगा 'जी माला की तरह मुझे तो दीखी ही नहीं'। इसी प्रकार उस एक अखण्ड चिन्मात्र के अन्दर, परमात्मा के अन्दर, बड़े से बड़े वैज्ञानिक से लेकर कल्लू चमार तक सब लोगों को सब कुछ दीख रहा है। परन्तु सबके अनुभव अलग-अलग हैं। वैज्ञानिक को जिस प्रकार का अनुभव हो रहा है वैसा अनुभव साधारण व्यक्ति को नहीं। इसलिये उसकी परमात्म-विषयक शंकाएँ भी दूसरे ढंग की होंगी। लोक में भी यही देखने में आता है। व्यापारी से पूछोगे 'बेईमानी क्यों होती है?' तो वह कोई और कारण बतायेगा। साधारण व्यक्ति से पूछोगे 'बेईमानी क्यों होती है?' तो वह कोई और कराण बतायेगा। सरकारी अफसर से पूछोगे 'बेईमानी क्यों होती है?' तो वह कोई और कारण बतायेगा। यह इसलिये क्योंकि सबके अनुभव भिन्न-भिन्न हैं। बेईमानी होती है और इसमें ये सभी कारण हैं। व्यापारी कहता है वह भी बात ठीक है, अफसर कहता है वह भी बात ठीक है, साधारण

आदमी कहता है वह भी बात ठीक है। वे सारे के सारे कारण अन्वित हैं परन्तु जिसका जो अनुभव है वह तो उसी अनुभव से समझना चाहेगा। इसलिये व्यापारी को यह समझाना होगा कि बेईमानी का कारण तुम्हारे अन्दर से कैसे आता है। वह हमेशा कारण दूसरे पर डाल देता है। 'जी, अफसर काम ही नहीं करते, हम क्या करें?' जब तक उसकी समझ में नहीं आयेगा कि इसका कारण मैं हूँ, तब तक तो दूर कर नहीं सकता।

इसी प्रकार से परमात्मा के विषय में अनेक प्रकार के संदेह लोगों के हैं। और प्रत्येक का संदेह अपने-अपने अनुभव के आधार पर है। जब तक उस अनुभव की संगति नहीं बैठेगी तब तक परमात्मा का ज्ञान उसको स्पष्ट होगा नहीं। शिष्य जिस प्रश्न को जिस दृष्टि से कर रहा है उसकी संगति लगाने के लिये उसको ग्रहण करने की सामर्थ्य होनी पड़ती है। जिस चीज़ को जिस व्यक्ति ने नहीं देखा है— रस्सी देख ली है लेकिन जलधारा नहीं देखी है— वह दूसरे को ठीक प्रकार से नहीं समझा सकता कि यह जलधारा कैसे दीखी। उसकी संगति नहीं लगा सकता। स्वयं उसके मन और इन्द्रियों में शान्ति होनी चाहिये। शम, दम, होना चाहिए। 'लब्धागमः' उसने स्वयं गुरुपरंपरा से ज्ञान प्राप्त किया है या नहीं यह भी शिष्य के ढूँढ़ने की चीज़ है। जिसको ज्ञान हो गया उसको तो किसी को प्रमाणित नहीं, करना है कि हमको ज्ञान हो गया। शास्त्रों में वामदेव की कथा आती है जिन्होंने गर्भ में ही ज्ञान को प्राप्त कर लिया। 'गर्भ एव शयानः वामदेवः प्रतिपेदे'। अब जब गर्भ में ही उसको ज्ञान हो गया तो उसका गुरु कहाँ था? इसलिये ज्ञान किसका कैसे होगा— इसका नियमन नहीं कर सकते। जहाँ फल उपलब्ध है वहाँ कारण का अन्वेषण व्यर्थ है। जिसको ज्ञान हो गया उसे तो सिद्ध करना नहीं है कि मुझे ज्ञान हो गया। परन्तु जो ज्ञान को ढूँढ़ रहा है वह देखेगा कि जहाँ मैं ज्ञान प्राप्त कर रहा हूँ वहाँ पर लब्धागमता है या नहीं।

'दृष्टादृष्टभोगेष्वनासक्तः।' गुरु दृष्ट और अदृष्ट भोगों में आसक्ति से रहित हो। दृष्ट भोगों की प्राप्ति होती है, लोकाराधन से। दुकान में बैठते हो तो ग्राहक की आराधना करते हो। जितना ग्राहक को खुश रखोगे उतनी ही तुम्हारी दुकान चलेगी। तुम्हारी कोई इच्छा नहीं किसी विवाह में जाने की लेकिन जाना पड़ता है क्योंकि नहीं जायेंगे तो हमारे यहाँ कौन आयेगा। यही लोकाराधन है। इसी प्रकार जितने दृष्ट भोग हैं उनकी प्राप्ति किसी न किसी को प्रसन्न करके ही

होती है। जो दृष्ट भोगों में अनासक्त होगा वह कभी भी लोकाराधन नहीं करेगा। इसी प्रकार से अदृष्ट भोगों में जो आसक्त होगा वह तप, यज्ञ आदि में प्रवृत्त होगा। किसी अदृष्ट भोग की इच्छा से ही प्रवृत्ति होगी। अदृष्ट भोगों में अनासक्त होगा तो उन चीज़ों के अन्दर भी कोई प्रवृत्ति नहीं होगी। इसके द्वारा यह बतलाया कि जिस प्रकार से शिष्य रात दिन परमात्मचिन्तन में ही लगे बाकी सब चीजों को छोड़ करके, उसी प्रकार से ब्रह्मविद्या का जो आचार्य होगा वह रात दिन ब्रह्मविद्या के उपदेश में ही प्रवृत्त हो, न उसके लिए लोकाराधन हो, न उसके लिए कोई अन्य यज्ञादि कर्म हों। निरन्तर यह प्रवृत्ति करने से ही सफलता होती है। परमात्मा की प्राप्ति आजकल की भाषा में पार्ट टाइम जॉब नहीं हो सकती। दिन भर दूसरा काम कर लेवें, शाम को कहीं लड़के को पढ़ाने चले जायें, ट्यूशन कर लेवें। इसी प्रकार से संसार के अन्य व्यवहार कर लेवें और फिर ब्रह्म के विषय में भी किसी को सिखा लेवें। यह नहीं हो सकता। निरन्तर इसके अन्दर प्रवृत्ति करने से ही संभव होता है। क्योंकि उसी से अन्तःकरण में एक सामर्थ्य आती है।

शब्द के अन्दर सामर्थ्य नहीं है। शब्द के अन्दर चेतन जो अपनी सामर्थ्य को देता है उतनी ही सामर्थ्य उसमें आती है। बहुत प्रसिद्ध कहानी है, आप लोगों ने सुना ही होगा। एक राजा ने कहा कि वही बात कही जाये तो क्या फर्क पड़ता है कि कौन कहता है। महात्मा ने कहा 'फर्क पड़ता है।' राजा नहीं माना तो महात्मा ने उस खड़े हुए चौकीदार से कहा 'अरे राजा को पकड़ लो।' चौकीदार सकपकाया। राजा की तरफ देखने लगा। राजा को गुस्सा आया उसने कहा 'पकड़ लो इसको मारो दो थप्पड़, मुझे पकड़ने को कहता है!' चपरासी ने झट से उसको पकड़ा और मार दिये दो थप्पड़। महात्मा हँस पड़े। कहने लगे 'राजन् वही बात मैंने कही, वही बात तुमने कही। कहने वाले की सामर्थ्य से ही तो शब्द में सामर्थ्य आयेगी। सामर्थ्य शब्द में नहीं है। शब्द के पीछे जो चेतनशक्ति है, अनुभव है, वह शक्ति देती है।' आत्मविद्या अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। इसलिये जब तक इसके पीछे निरन्तर अन्तःकरण की वृत्ति का बल नहीं होगा तब तक सामने वाले में वह कोई ज्ञान उत्पन्न कर नहीं सकेगा। इसलिए कहा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।' ब्रह्मज्ञानी होवे और केवल ब्रह्म में ही स्थित होवे।

प्रश्न उठता है कि जो केवल ब्रह्म में ही स्थित है वह उपदेश क्यों करेगा ? भाष्यकार उत्तर देते हैं 'विद्योपयोगार्थी'। विद्या के उपयोग की जिसमें इच्छा है। शास्त्रों के अन्दर एक प्रतिपत्ति-कर्म कहा जाता है। याग करते हुए सिर इत्यादि खुजलाने के लिए काले हिरण के सींग के प्रयोग का विधान है। जो याग कर रहा होवे, उसको खाज आवे, खुजली आवे, तो हाथ से नहीं करे। काले हिरण का जो सींग है वह उसको दे दिया जाता है। इससे खाज करना। अब प्रश्न उठता है कि याग जब समाप्त हो गया तो उसका क्या किया जाय ? तो शास्त्रों ने बताया है 'चात्वाले कृष्णविषाणं प्रास्यति।' एक विशेष गड्ढा खुदा होता है, उसके अन्दर उसको डाल देवे। जिस चीज़ की आवश्यकता समाप्त हो गई उस चीज़ का कहीं न कहीं विनियोग करना पड़ता है। अब याग खत्म हो गया तो यह तो नहीं कि सींग को हाथ में ही पकड़े रखे। कहीं तो डालना पड़ेगा। इसी प्रकार से शास्त्रकार कहते हैं कि विद्या भी डालनी पड़ती है।

'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज॥'

आत्म-ज्ञान के बल से धर्म और अधर्म दोनों को छोड़ देना है। सत्य और अनृत दोनों को छोड़ देना है। अब जिस ब्रह्मविद्या के बल से धर्माधर्म, सत्यानृत सब कुछ छोड़ दिया 'येन त्यजसि' जिस ब्रह्मविद्या के बल से इनको छोड़ा, 'तत्त्यज' उसको छोड़ो। अब उसको कहाँ छोड़े ? वह कोई द्रव्य तो है नहीं कि उठा कर चौक में फेंक दो या सड़क पर फेंक दो। ज्ञान तो शिष्य के हृदय में ही डाला जा सकता है। जिस ब्रह्मविद्या से धर्माधर्म, सत्यानृत सब को पार कर लिया, अब जो वह ब्रह्मविद्या है वह शिष्य के हृदय में छोड़नी है। यही विद्या का उपयोग है। तो विद्योपयोगार्थी भी गुरु को होना पड़ेगा।

इस विद्या का उपयोग करते समय जो हृदय के अन्दर अनुग्रह का भाव है वह जिस पर हो जाये उसी को विद्या की प्राप्ति हो जाती है। एक ब्राह्मण था पाकयज्ञ। उसका पुत्र था शशिवर्ण। यद्यपि पाकयज्ञ ने सब प्रकार की शिक्षा उसको दी थी परन्तु कुसंग के कारण शशिवर्ण पापों में रत हो गया। मनुष्य के जीवन का निर्माण करने वाली सबसे बड़ी चीज संग है। इसीलिए शास्त्रों के

अन्दर बार-बार जोर दिया कि कुसंग कभी न करे। परन्तु आधुनिक युग के अन्दर नित्य निरन्तर कुसंग का ही प्रवाह है। लोग आकर बड़े प्रेम से यह तो कहते हैं 'महाराज टेलीविजन के अन्दर रामायण आती है यह तो अच्छी चीज है।' हम कहते हैं 'बहुत अच्छी चीज़ है।' फिर हम चुप रहते हैं कि देखें ये आगे कुछ कहते हैं कि नहीं कहते। फिर हम उनसे कहते हैं 'उसमें यह भी तो आता है कि अंडा खाना चाहिये, बड़ी अच्छी चीज है। उसका भी तो विज्ञापन आता है।' कहते हैं 'हाँ जी वह भी आता है।' तो जो कुसंग है उसको कुसंग न मानना यह एक प्रकार का आग्रह हो गया है क्योंकि कुसंग से बचने की हमारी प्रवृत्ति नहीं। शास्त्रकार कहते हैं अगर सत् का संग कर सको तो बड़ा अच्छा पर न कर सको तो कुसंग तो मत ही करो। संग से ही मनुष्य के संस्कार बदलते हैं, मनुष्य का निर्माण होता है। अब हमारी संग की परिस्थिति यह हो गयी है कि बड़े से बड़े घर के बच्चों को बड़ा किया जाता है किनके संग में? आयाओं के संग में, दाइयों के संग में। मेडसर्वेन्ट नाम रख दिया उनका। वे किस स्तर की हो सकती हैं यह तुम खुद जानते हो। उनकी भाषा, उनका लहज़ा सब किस स्तर का होता है। फिर लोग आकर शिकायत करते हैं 'महाराज बड़े अच्छे-अच्छे घरों के लड़के ऐसा करने लग गये।' अच्छे घरों ने अच्छे घरों का वातावरण उन बच्चों को दिया कब? उनको तुमने दाइयों का वातावरण दिया। तो उसी वातावरण में ही तो वे पले हुए हैं। इसी प्रकार से सर्वत्र हमारा संगदोष बढ़ता जा रहा है।

शशिवर्ण इस संगदोष के कारण ही पापरत हो गया। इसलिये खान-पान उसका अशुद्ध हो गया। शराब पीना, मांस खाना, परमेश्वर की निन्दा करना यह सब उसने प्रारम्भ कर दिया। यह संसार माया का स्थान है। थोड़ी कड़वी बात कहेंगे, घबराना नहीं। यह संसार जो है न यह माया का स्थान है। इसलिये यहाँ जीवन में बुरे कर्म करने वालों की उन्नति तुमको हमेशा दीखेगी। यह आज की ही बात नहीं है। जहाँ कहीं पुराणों में देखोगे, राक्षस लोग हमेशा जीतते हैं, देवता हारते हैं, अन्त में परमेश्वर की शरण में जाते हैं और परमेश्वर ही उनको बचाते हैं। यह संसार चूँकि माया का खेल है इसलिये मायावी लोग ही यहाँ पर सफलता को प्राप्त करते हैं। अतः जीवन की परिस्थितियों में असफलता मिलने पर कभी दुःखी मत हो। जो कोई अंतरंग साधक होता है उसको तो हम कई बार

कहते हैं जीवन में जब सफलता पर सफलता होती जाये तो बैठ कर विचार करो कहीं कोई पाप तो नहीं कर रहे हो। यदि शुभ ही कर रहे होगे तो तुम्हे उसमें विघ्नों की प्राप्ति होगी। यह बहुत कम होता है कि आदमी गलत काम न करे और संसार में सफलता पर सफलता मिलती जाये।

शशिवर्ण पाप में रत था इसलिये सफलताएँ मिलती गईं। परन्तु उसका पिता हमेशा परमेश्वर से प्रार्थना करता रहता था कि अरे यह देखो दुष्कर्म में प्रवृत्ति कर रहा है इसे सद्बुद्धि आवे। उसको समझाने का प्रयत्न करे। तो वह तो सफल हो रहा था। सफल व्यक्ति तो सुनना भी नहीं चाहता। पिता भगवान् से बार-बार प्रार्थना करे कि इसको किसी प्रकार आप रास्ते पर लावें। धीरे-धीरे शशिवर्ण जरा बड़ी उमर का हो गया। एक बार बड़ा जबरदस्त बीमार पड़ा। अपस्मार हो गया। अब जितने उसके पाप कर्म करने के मित्र, साथी थे सबने साथ छोड़ दिया। पापियों के समुदाय की यह विशेषता है। जब तक तुम पाप कर्म में रत रहोगे तब तक तुम्हारे मित्र हैं और जहाँ तुम्हारी पाप करने की सामर्थ्य गयी वहाँ उनकी मित्रता भी ख़त्म। तुम मित्रों को दस साल तक शराब पिलाते रहो और दस साल के बाद कह दो अब हमने शराब छोड़ दी हमारे साथ बैठ कर दूध पिया करो, तो वे जितने मित्र हैं न, सब उठ जायेंगे। कोई दूध पीने के लिए तुम्हारे पास नहीं बैठेगा। पाप का यह स्वभाव है, क्योंकि पाप कर्म करने वाले में कभी भी कर्तव्य-बुद्धि तो उदय होती नहीं। उसमें तो भोग-बुद्धि ही प्रधान रहती है। तो शशिवर्ण को भी मित्रों ने छोड़ दिया। अब धीरे-धीरे उसकी समझ में बात आने लगी कि पिताजी ठीक कहते थे। पिता जी से प्रार्थना करने लगा। अब जो बचपन में पढ़ा हुआ था, पिता ने तो सब पढ़ाया ही था, वह संस्कार उदय होने लगा — अरे मैं तो गलत रास्ते में चला गया। जब पिता ने देखा कि इसकी वृत्ति संसार से बाह्य विषयों से, हट रही है तो वह उसे गोपर्वत पर रहने वाले महाकारुणिक महानन्द नाम के महात्मा के पास ले गया। उनसे प्रार्थना की। उन्होंने सब बातें सुनकर उससे कहा 'भाई तुम मेरे पास कुछ समय रहो।' बड़े प्रेम से उन्होंने उसके उपर हाथ फेरा। पाकयज्ञ के उस पुत्र को देख कर उनके हृदय में करुणा आई। यह मेरा ही बच्चा है — इस भावना से उन्होंने ब्रह्मविद्या के बल से उसको अपना लिया। उसके रोग की निवृत्ति हो गई। अब वहाँ रह कर वह उनकी सेवा करने लगा।

उनके पैर दबाने, तेल की मालिश करता, उनके वस्त्रादियों को धोता, उनके लिये जंगल में जाकर शाक, मूल, फल इत्यादि लाता। इस प्रकार निरन्तर सेवा में जब लग गया तो उसका अन्तःकरण शुद्ध होता चला गया।

अन्त में जब उन्होंने देखा कि इसकी सर्वथा इधर से निवृत्ति हो गई है तो उसको वेदान्त ज्ञान दिया, जिससे वह कृतार्थ हो गया। जितने भी मनुष्य के दोष हैं सब निवृत्त हो जाते हैं जब वह बाहर से वृत्ति हटा लेता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में न जाने कितनी गलतियाँ करता ही रहा है। किसी ने आज की है, किसी ने पूर्व जन्मों में की है। जैसे ही मनुष्य की वृत्ति बाह्य समस्त विषयों से उपरत हो जाती है, वह गुरु की शरण लेने के योग्य बन जाता है। जैसे ही बाहर फैलने वाली वृत्ति वहाँ से हटा कर परमात्मा को जानने के लिए प्रवृत्त हो जाता है वैसे ही गुरु की कृपा मिल कर उसको अवश्य कल्याण की प्राप्ति हो जाती है। आवश्यकता है बाह्य विषयक वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने की। इसी को यहाँ कहा 'विधिवत् उपसन्नः पप्रच्छ।' अब वह क्या प्रश्न पूछता है यह आगे बतायेंगे।

षष्ठ प्रवचन

(२५ नवम्बर, १९८८)

अथर्ववेद की मुण्डकोपनिषद् के आधार पर पराविद्या का विचार चल रहा है। ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मविद्या को सारी विद्याओं की प्रतिष्ठा समझकर अथर्वा के द्वारा परम्परा प्रारम्भ की। इस विद्या को प्राप्त करने के लिए शौनक महर्षि विधिवत् गुरु के समीप गये।

वे बड़े भारी गृहस्थी थे, बड़े भारी कुटुम्ब वाले थे। अतः आप लोगों को यह न सोच लेना चाहिये कि यह मुण्डकोपनिषत् हमारे क्या काम की, पराविद्या हमारे किस काम की क्योंकि यहाँ प्रश्नकर्ता ही महाशाल हैं। अब विधिवत् उसने गुरु का अन्वेषण किया यह कल बतलाया। जाकर के वह क्या पूछता हैं?

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति'।

'कस्मिन्नु' 'नु' इति वितर्के।हे भगवन्! वह कौन सी चीज़ है जिसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है? 'विज्ञातम्' पर भगवान् भाष्यकार लिखते हैं 'विशेषेण ज्ञातम् अवगतं भवति'। सामान्येन तो हम लोग बहुत सी चीजों को जानते हैं। संसार के जितने भी पदार्थ हैं उन सबका कोई न कोई नाम है, कोई न कोई रूप है, कोई न कोई लक्षण है। वह किसी न किसी ज्ञान का विषय है, प्रमेय है। इस प्रकार से तो संसार की सब चीज़ों को हम लोग भी जानते हैं। मोटी भाषा में समझो — कोई कहें आप बैंगलोर शहर को जानते हो? तो आप जवाब दे सकते हैं 'हाँ जानते हैं।' 'कभी वहाँ गये हैं?' 'नहीं।' किस प्रदेश में है, किस स्टेट में है, किस राज्य में है जानते है? 'नहीं।' 'फिर क्या जानते हैं?' 'बंगलोर शहर है इस बात को जानते हैं। क्योंकि अभी-अभी आपने कहा बैंगलोर शहर को जानते हो क्या? तो बैंगलोर शहर को जान लिया-कि वह शहर है। इतना जान लिया।' आचार्य विद्यारण्य महामुनि इसी प्रकार के ज्ञानियों का दृष्टान्त देते हैं। किसी राजा ने कहा कि जो चारों वेदों को जानता होवे उसको यह पुरस्कार मिलेगा। तो चारों वेदों को जानने वाला कोई खड़ा नहीं हुआ। एक व्यक्ति खड़ा हो गया। लोगों को बड़ा आश्चर्य

हुआ, यह कुछ खास पढ़ा लिखा नहीं, यह कैसे खड़ा हो गया। उससे कहा 'चारों वेदों को जानते हो ?' बोले 'हाँ जानता हूँ।' 'क्या जानते हो ?' 'वेद चार होते हैं। आपने कहा न चारों वेदों को जानते हो — तो वेद चार होते हैं।' ठीक इसी प्रकार से संसार के सब पदार्थ हैं। किसी न किसी शब्द के अर्थ हैं। संसार की सब चीजें प्रमेय हैं, इत्यादि रूप से तो सब चीजों को जानने वाले हम लोग भी हैं। क्या इसी प्रकार उस परमात्मतत्व को जानने पर सर्वज्ञता हो जायेगी ? कहते हैं, नहीं। *'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति इदं सर्वं विशेषेण ज्ञातं भवति।'* केवल सामान्य रूप से नहीं, विशेष रूप से सब चीजें जान ली जाती हैं। परन्तु कब ? जब *'यस्मिन् विज्ञाते'* जब उस चीजों का विशेषेण ज्ञान हो जाये।

कौन सी वह चीज़ है जिसके साक्षात्कार से सब चीज़ें सर्वथा ज्ञात हो जाती हैं ? एकविज्ञान की यहाँ प्रतिज्ञा है। यहाँ शिष्य पूछ रहा है। ठीक इसी प्रकार की कथा सामवेद में आती है। वहाँ पर गुरु पूछता है। गुरु वहाँ पिता है। पिता देखता है कि पुत्र पढ़कर आया परन्तु घमण्डी बन गया। शास्त्रों का कहना है *'विद्या ददाति विनयम्'* जो भी विद्या को प्राप्त करेगा, ज्ञान को प्राप्त करेगा वही विनयी हो जायेगा, घमंडी नहीं होगा।

'विद्या ददाति विनयं सा चेत् स्याद् विनयापहा !

'किं कुर्मः कस्य वा ब्रूमः गरदायां स्वमातरि ॥

अब यदि विद्या पढ़कर ही किसी को घमंड होने लग जाये, वही अगर विनय को नष्ट करने वाली हो जाये, तो जिस बच्चे को माँ जहर पिलाने लग जाये उस बच्चे की रक्षा का उपाय कहाँ होगा ! क्या कहें और किससे कहें ? इसी प्रकार विद्या विनय देने वाली है और उस विद्या की घूँटी से ही यदि किसी को गर्व होने लग जाये, नशा होने लग जाये तो फिर उसक किस तरह विनयशील बनाया जाये ?

पिता ने देखा कि यह पढ़कर आया है परन्तु अत्यन्त ही घमंडी दीख रहा है, अपना नुकसान कर रहा है। यदि इससे केवल कहूँगा कि विद्या का घमंड नहीं करना चाहिये तो यह सोचेगा 'मैं बहुत पढ़ा हुआ हूँ, पिताजी इतनी विद्या वाले हैं नहीं, मुझसे ईर्ष्या करते हैं।' लोक में प्रायः ऐसा होता है। किसी आदमी

को कोई ठीक बात कहने जाओ तो उसको लगता है कि इनको मेरी उन्नति सहन नहीं हो रही है। अतः इससे सीधा कहने से काम नहीं होगा। पिता ने कहा 'अरे तू बड़ा विद्वान् हो कर आया है। वह विद्या भी पढ़ आया है न, जिसके जानने से सब कुछ जान लिया जाता हैं? 'अदृष्टं दृष्टं भवति, अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतं भवति, अविज्ञातं विज्ञातं भवति'। नहीं देखी हुई चीज़ देखी हुई हो जाती है। नहीं सुनी हुई चीज़ सुनी हुई हो जाती है। नहीं सोची हुई चीज सोची हुई हो जाती हैं। नहीं जानी हुई, निश्चय न की हुई चीज निश्चित हो जाती है। उस विद्या को पढ़ा है न? पिता जानते थे, यदि उस पराविद्या को इसने सीखा होता तो कभी भी इसको घमंड का नाम भी छू नहीं सकता था। घमंड यह अज्ञान का परिणाम है। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ अज्ञान का विकार गर्व रह नहीं सकता। इसलिये उससे पूछा कि वह विद्या भी सीख आया कि नहीं? उसको वह विद्या आती नहीं थी। उसने कहा 'जी वह तो नहीं सीख आया।' उसका गर्व शिथिल पड़ गया। फिर उसको उन्होंने उपदेश दिया।

यहाँ तो शिष्य वही प्रश्न पूछ रहा है। प्रश्न होता है कि उसे यह पता कैसे लगा? तो आचार्य शंकर कहते हैं कि शिष्टप्रवाद से उसे यह मालूम पड़ा। शौनक भी महर्षि ही थे। वेदादि का अध्ययन किया था, शिष्ट लोगों के, सत्पुरुषों के बीच रहते थे। वहाँ पर शिष्ट लोग आपस में वार्ता करते थे कि भाई एक ऐसा तत्व है, परमात्मतत्व, जिसे जानने से मनुष्य सर्वविद् हो जाता है। क्योंकि बिना कहीं से सुने हुए प्रवृत्ति होती नहीं। मनुष्य संसार के सब ज्ञानों के लिये प्रवृत्ति करता है। आत्मज्ञान के लिये—पराविद्या के लिये—कहाँ प्रवृत्ति करता हैं? यदि शिष्टों के साथ रहे, तब यह विषय सुनने को मिले, तब प्रवृत्ति हो। जब तक किसी चीज़ को किसी न किसी प्रकार से पहले जान नहीं लोगे तब तक उसके लिये प्रवृत्ति संभव नहीं। इसके द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि शौनक महर्षि शिष्ट पुरुषों के साथ रहने के कारण इस बात को जानते थे कि एक अद्वितीय परमात्मतत्व ऐसा है जिसको जानने से सर्वविद् हुआ जाता है। इतना ही नहीं 'लोकसामान्यदृष्ट्या ज्ञात्वैव पप्रच्छ।' संसार में सामान्यतः प्रवृत्ति होती है कि मनुष्य चाहता है कि थोड़ी चीज़ जानूँ और सरलता से जान लूँ और मेरा ज्ञान बड़ा होवे। यह सब की सहज प्रवृत्ति है। इसीलिये मनुष्य कहता रहता हैं 'जी आपने यह किताब पढ़ी है, संक्षेप में बता दो इसमें क्या कहा है और सर-

लता से समझा दो। इसके अन्दर जो कठिन युक्तियाँ हैं उनको छोड़ दो।' प्रवृत्ति है थोड़े में जानने की। कहीं पर गीता-शांकरभाष्य पढ़ाते हैं तो बीच में शास्त्रार्थ का विषय आता है तो लोग कहते हैं 'महाराज इसको छोड़ दीजिये।' कुछ लोगों ने ऐसी किताबें भी छाप दी हैं जिनके अन्दर से शास्त्रार्थ का विषय हटा दिया है। कठिन पड़ता है तो कठिन चीज़ को छोड़ना चाहता है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं— 'लोकसामान्यदृष्ट्या' लोगों की यह सामान्य दृष्टि है कि संक्षेप में सरलता से किसी भी चीज़ को जानना चाहते हैं। इसीलिये वैज्ञानिक भी निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं किस प्रकार से अनेक सूत्रों के द्वारा, अनेक फार्मूले द्वारा इक्वेशन्स के द्वारा, जो समझा जाता है, उन सब को मिलाकर एक कर देवें। सारी की सारी आधुनिक भौतिकी — फिजिक्स — फील्ड थ्योरी इत्यादि के द्वारा प्रयत्न कर रही है कि सारे संसार को समझने के लिए एक सूत्र निकल आवे। उस एक सूत्र से संसार में जहाँ कहीं भी कुछ हो रहा हैं उसके बारे में जाना जा सके।

मनुष्य की ऐसी लौकिक प्रवृत्ति हैं। 'लोकसामान्यदृष्ट्या।' व्यवहार में भी हम लोग यही करते हैं। साल खत्म हो गया तब दूकान का एक चिट्ठा बनाते हैं, बैलेन्स शीट कहते हैं उसको, जिस पर एक बार नज़र डालते ही पता लग जाये यह नफा या नुकसान हुआ है। इसी प्रकार सब चीजों के अन्दर मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। अतः शौनक की भी सहज प्रवृत्ति हुई कि यह सारा जगत् जिस निमित्त व उपादान कारण से बना है उसको समझ लूँ तो सब कुछ समझ लिया जाये। क्योंकि यह तो निश्चित है कि इस विश्व के अन्दर सब चीजें कार्य-कारण परम्परा से चलती हैं। इस विश्व में जहाँ कहीं कुछ है तो उसका कारण अवश्य है। कार्य है तो कारण अवश्य है। यह चीज़ भौतिक जगत् में भी चलती है, मानसिक जगत् में भी चलती है। अमुक विचार हमारे मन में क्यों आया तो पहले उसके संस्कार पड़े हुए थे इसलिये अमुक कारण से हमारे मन में संस्कार का उदय हुआ। भौतिक जगत् में कहीं कोई घटना देखने में आवे, कोई कार्य देखने में आवे तो तुरन्त हमको निश्चय है इसका कोई कारण अवश्य है। अगर कोई कह दे 'बिना कारण के कार्योत्पत्ति हुई है', तो हमको जँचता नहीं। हम जान लेते हैं कि यह हमारे साथ धोखा कर रहा है। जहाँ भी कोई कार्य उत्पन्न हुआ है उसका कारण

अवश्य हैं। चूँकि भौतिक और मानसिक दोनों जगत् के अन्दर यह प्रवाह चल रहा है इसलिए प्रश्न स्वाभाविक है।

इस कारण की परम्परा का कोई अन्त होना चाहिये, प्रथम कारण होना चाहिये। और यदि उस कारण को ठीक तरह से समझ लिया जायेगा तो उसके आगे आने वाली सारी कार्य-परंपरा समझ में आ जायेगी। उस कारण से पहले क्या कार्य उत्पन्न हुआ, उससे फिर क्या उत्पन्न हुआ, इस प्रकार से यदि मूल कारण को सम्यग् रूपेण अवगत कर लिया जाये तो वहाँ से लेकर आदि पर्यन्त और आगे प्रलय पर्यन्त सारी कारण-परंपरा को आदमी समझ सकता है। यह मान कर लोकसामान्य दृष्टि से जान कर शौनक पूछते हैं। इस प्रकार शिष्ट लोगों से सुना भी है और स्वयं भी विचार करते हैं तो लगता है कि इस सारे जगत् की कारण परंपरा कहीं न कहीं जा कर अवश्य समाप्त होती है। इसी बात को बतलाने के लिये भगवान् वेदव्यास ने जहाँ परमात्मा का लक्षण किया, वहाँ कहा, जिससे सृष्टि, स्थिति और लय होते हैं वह परमेश्वर है। 'जन्माद्यस्य यतः।' जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है, जिसमें उसकी स्थिति होती है और जिसमें वह लय होती है, वह ब्रह्म है, यह वेद में कहा है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म'। तो वेद को पढ़ने से भी पता लग जाता है कि सृष्टि का कारण ब्रह्म है। बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता है। इसलिये सब का अन्तिम कारण कोई है। इसी प्रकार से न्याय की विचार-प्रणाली है — कार्य से कारण का अनुमान करना। जन्म-स्थिति-लय कार्य हैं। इसलिये उनका कारण है। इस प्रकार से अनुमान भी यहाँ संकेतित हो जाता है। कुछ लोगों ने इस सूत्र को अनुमानपरक ही माना है। यह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मसूत्र अनुमान बनाने में प्रवृत्त नहीं हुए हैं, श्रुतिसंगति के लिये प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु अनुमान के प्रकार का संकेत जो वेद ने दिया वही यहाँ कहा जा रहा है। तो चाहे वेद से सुनकर, शिष्टों से सुनकर और चाहे अनुमान के बल से, युक्ति के बल से शौनक ने यह विचार किया। जैसे सोने से अनेक गहने इत्यादि बनते हैं, सोने को ठीक से समझ लो तो उससे बनने वाले गहनों का ज्ञान हो जाने से सब कुछ जान लिया जाता है।कार्य से कारण का अनुमान करते हैं तो पहले कारणस्वरूप को समझना जरूरी है। कारण किस प्रकार का होता है? इसके बारे में दार्शनिकों ने बड़ा विचार किया।

'आरंभसंहतिविकारविवर्तवादान् ।
आश्रित्य वादिजनता खलु वाव ीति ।'

शास्त्रकार कहते हैं कि कोई आरंभवाद को मानते हैं, कोई संघातवाद को मानते हैं, कोई विकार को मानते हैं कोई विवर्त को मानते हैं । चार प्रकार की कारणता को लेकर 'वादिजनता खलु वावदीति' वादियों का समूह आपस में विवाद करता रहता है । चार तरह की कारणता भिन्न-भिन्न लोग मानते हैं । अनेक चीजों को, अनेक प्रकार की चीज़ों को इकट्ठा कर देने से कार्य उत्पन्न होता है । यह है संहति, संघात । ईंट, गारा, चूना या आजकल सीमेंट, लोहा इन सब चीज़ों को व्यवस्थित रूप से इकट्ठा कर देने पर मकान बन जाता है । ईंट-ईंट बनी रहती है, गारा गारा बना रहता है, सीमेंट सीमेंट बना रहता है, लोहा लोहा बना रहता है । सब मिल-कर मकान बन जाते हैं । इसी प्रकार संघातवाद का कहना है कि संसार में जहाँ कहीं कुछ भी बनता है वहाँ अनेक चीज़ें इकट्ठी हो जाती हैं और कार्य बन जाता है । कुछ लोग कहते हैं कि चीज़ें अमुक प्रकार से सम्बद्ध हो कर एक नई चीज़ को पैदा कर देती हैं । जैसे धागे को ताने बाने में बना दो तो कपड़ा बन जाता है । ताना-बाना बनाने के पहले कपड़ा नहीं था । धागे का तानाबाना बन गया तो कपड़ा पैदा हो गया । कुछ लोग मानते हैं विकार, परिणाम । अर्थात् एक चीज़ दूसरे रूप में परिणत हो जाती है । दूध में जामम डालकर जमा दिया तो दही बन गया । कुछ लोग मानते हैं चीज़ बिना बदले हुए ही दूसरे रूप को धारण कर लेती है । जब रस्सी में हमको साँप दिखाई देता है तो न कई रस्सियाँ मिली वहाँ पर, न कोई साँप पैदा हुआ । कुछ भी नहीं हुआ । रस्सी रस्सी ही बनी रही और साँप रूप में दीख गई ।

यद्यपि यह ठीक है कि चारों प्रकार के कार्य संसार में देखे जाते हैं । ईंट-गारे से मकान बनता भी देखा जाता है, यह भी बात सच्ची है । धागे से कपड़ा बनता भी देखा जाता है, यह भी बात सच्ची है । दूध से दही बनता देखा जाता है, यह भी बात सच्ची है । रस्सी से साँप बनता भी देखा जाता है, यह भी बात सच्ची हैं । बातें तो चारों ठीक हैं । तथापि प्रश्न केवल यह है कि संसार का कारण कैसा है, संसार किस प्रकार से बना, मूल कारण किस प्रकार से सृष्टि बनाता है । यदि कहें संघात से मूल कारण सृष्टि बनाता है तो फिर एक मूल

कारण तो रहा नहीं। कई चीज़ें अलग-अलग रहीं। वे भी तो कार्य होने से किसी कारण से उत्पन्न होंगी। अतः अनेक चीजों को एकत्रित करने वाली जो बात है वह मूल कारण के लिए ठीक घटती नहीं। इसलिये

'आरम्भसंहतिमतिं परिहृत्य वादौ

द्वावत्र संग्रहपदं नयते मुनीन्द्रः।'

इसलिए जो पहले दो हैं आरम्भवाद और संघातवाद, जिनमें अनेक कारण होने पर कार्य होता है, उन्हें जगत् के मूल कारण के बारे में प्रवृत्त नहीं कर सकते। क्योंकि मूल कारण तभी कह सकते हैं जब वह एक हो। इसलिये जो दो बचे विकार और विवर्तवाद जिनमें एक कारण से कार्य संपन्न हो जाता है, उन्हें ही प्रवृत्त कर सकते हैं। इनमें एक चीज़ किसी प्रकार से दूसरे रूप में बन जाती है जैसे दूध दही बन जाता है। दूध एक है, दही बन गया अथवा रस्सी एक है, उससे सर्प बन गया। इन दो पद्धतियों का ही विचार मूल कारण के विषय में किया जा सकता है।

जब इस मूल कारण का विचार करते हैं तो पहले परिणामवाद ही प्राप्त होता हैं। एक परब्रह्म परमात्मा ने जगत् के सारे रूपों को धारण कर लिया। यही बात वेदादि सच्छास्त्र कहते हैं। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'। परमात्मा अपनी शक्ति के द्वारा अनेक रूपों को धारण कर लेता है। उस मूल कारण पर-ब्रह्म परमात्मा ने अपने आप को अपनी शक्ति के द्वारा अनन्त रूपों में प्रकट कर दिया। जैसे मिट्टी से बने हुए सारे बर्तन मिट्टी हैं। सिकोरा है, परई, मिट्टी के कई बर्तन हैं। उन सब को जब देखते हैं तो मिट्टी ही परई बनी, मिट्टी ही घड़ा बनी। इन सारे रूपों को लेने वाली मिट्टी ही है। इसलिये बुद्धिमान् इन सब को मिट्टी रूप ही जानता है। बच्चा जब तक इस बात को समझता नहीं तब तक उनको भिन्न-भिन्न समझता है। कलकत्ते में दीवाली के दिनों में हलवाई लोग चीनी का मकान बनाते हैं। दो-दो, तीन-तीन तल्ले का मकान बनाते हैं। उसके अन्दर खम्भे भी चीनी के ही बनते हैं, बरामदा, कमरा, दरवाजा, चौक सभी कुछ चीनी का ही बनता है। सब चीनी ही चीनी है। पता नहीं दिल्ली में ऐसा बनता है कि नहीं। कलकत्ते में इसका बड़ा शौक है, रिवाज़ है, वहाँ की पद्धति है। उसे खरीद कर घर लाते हैं। बच्चे बड़े प्रसन्न होते हैं। वह है तो चीनी का ही।

पाँच-सात दिन बच्चे खेलते हैं तो कभी कोई खम्भा टूट जाता हैं, कभी कोई छत का हिस्सा टूट जाता है तो बच्चे रोने लगते हैं — 'मेरा घर टूट गया।' लेकिन माँ को कोई दुःख नहीं है। खम्भा टूटा तो उसको दूध चाय में डाल दिया। छत टूटी तो उसको दूध चाय में डाल दिया। क्योंकि वह तो जानती है कि इन सब रूपों में है तो चीनी ही चीनी। लेकिन बच्चा उसको चीनी रूप से न जानकर भिन्न रूप से जानता है। इसलिये सुखी-दुःखी होता है। इसी प्रकार से वह पर-ब्रह्म परमात्मा ही सर्व रूपों को धारण किये हुए है। इस बात को जो जानता है उसके तो सुख-दुःख की निवृत्ति हो जाती है, शोक-मोह की निवृत्ति हो जाती है। और जब तक बालपन की बुद्धि है, बचपने की बुद्धि है, इस बात को नहीं जानता, तब तक सोचता है ये सब पदार्थ अलग-अलग हैं, भिन्न-भिन्न हैं, न्यारे-न्यारे हैं। इस प्रकार से संसार की कारणता परमेश्वर की जब आदमी समझ लेता है, उस ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है, तब इस बात को समझता है कि ये सारी चीजें परमात्मरूप हैं। जैसी दीख रही हैं वैसी ही परमात्मरूप हैं। पर-मात्मा का ही विकार, परमात्मा का ही परिणाम यह सारा जगत् है। इसको कहते हैं शास्त्रीय भाषा में आरोपदृष्टि।

'आरोपदृष्टिरुदिता परिणामदृष्टिः
मध्ये विवर्तविषयाऽद्वयविश्वदृष्टिः।'

सारे नाम-रूप धारण करने वाला परमात्मा है—ऐसा जो परमात्मा के ऊपर आरोप है यह परिणामदृष्टि है। जब मनुष्य की अन्तिम दृष्टि बनती है अर्थात् इन चीजों को तत्तद् रूप में देखते देखते जब वह उन्हें उसके सिवाय और कुछ नहीं समझता, तब नाम-रूपात्मक द्वैतदृष्टि शान्त हो जाती है। ज्ञानी की जब दृढता की स्थिति हो जाती है तब उसकी दृष्टि इस सारे द्वैत का अपवाद कर देती है। जिस प्रकार से वह चीनी का मकान जहाँ-जहाँ से टूटता है वहाँ-वहाँ से केवल चीनी ही है। फिर वह खम्बा नहीं है। उस खम्भे को या उस छत के टूटे हुए टुकड़े को जब दूध चाय में डाल दिया तो वहाँ पर अब न खम्भा है और न छत है। असलियत चीनी है। वह तो है। अब खम्भा, बरामदा यह द्वैत की दृष्टि हट गयी। जब तक यह नहीं हुआ तब तक समझाने के लिए 'मध्ये विवर्तविषयाऽद्व-यविश्वदृष्टिः'। जब तक यह अन्तिम स्थिति नहीं बनी तब तक उसको यह बत-लाना पड़ता है कि 'देखो चीनी ही बिना अपने स्वरूप मिठास को छोड़े हुए

खम्भा रूप से दीख रही है। जैसे दूध दही बन गया तो दूध रह नहीं गया। ऐसा परिणाम चीनी का नहीं है कि चीनी खम्बा बनी तो चीनी रह नहीं गई। सारे रूपों को धारण करते हुए भी वह परब्रह्म परमात्मा वस्तुतः वैसा का वैसा इस समय में भी बना हुआ है।' इस बात को समझने के लिए दृष्टान्त प्रसिद्ध है— जैसे रस्सी बिना अपने स्वरूप को छोड़े हुए ही सर्प रूप में प्रतीत होती है वैसे परमात्मा बिना अपने स्वरूप को छोड़े हुए ही जगद् रूप में प्रतीत होता है। तीन दृष्टियाँ हुईं साधक की। पहले सारे संसार को जैसा है वैसा परमात्मरूप समझो। फिर परमात्मा अपरिणत रहता हुआ ही इस रूप में दीख रहा है ऐसा समझो। और अन्त में परमात्मा ही परमात्मा दीखेगा। उससे भिन्न और कुछ दीखेगा नहीं। यह अंतिम दृष्टि है। यह सब है दृष्टि का ही खेल, हो !

प्राचीन काल में एक गाधि नाम के ब्राह्मण थे। वे कोशल देश के रहने वाले थे। उनके मन में एक बार इच्छा आ गयी कि परमेश्वर की शक्ति कैसी है इसको देखें । दीर्घकाल तक उन्होंने परमेश्वर की आराधना की। परमेश्वर उनकी आराधना से प्रसन्न हो गये और बोले 'भाई ! तुम्हे क्या चाहिये ?' उन्होंने कहा 'महाराज ! आपकी जो यह माया शक्ति है इसको मैं देखना चाहता हूँ। यह किंरूपा है।' भगवान् ने कहा 'अरे जाने दे, और कुछ ले ले।' वे बोले 'नहीं महाराज, मेरी तो आपकी जो माया की ही शक्ति है उसको देखने की इच्छा है।' उन्होंने कहा 'अच्छा भाई, जब समय आयेगा तो तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायेगी।' कुछ काल के बाद गाधि गंगास्नान करने गये। कपड़े उन्होंने रख दिये और गंगास्नान करने के लिए गंगा जी में गये और गोता लगाया। गोता लगाते ही उनको ऐसी प्रतीति हुई कि मैं अपने घर में बिछौने पर पड़ा हुआ हूँ और बहुत बीमार हूँ। वैद्य लोग आ रहे हैं, देख रहे हैं लेकिन कोई दवा फायदा नहीं कर रही। होते-होते वैद्यों ने सिर हिला दिया कि अब तो यह लाइलाज मर्ज़ है। कोई दवाई नहीं इसकी।

उसी अवस्था में गाधि महर्षि को अनुभव हुआ कि वे शरीर छोड़कर बाहर निकल रहे हैं, वे मर गये हैं। यमदूत उनको पकड़कर ले गये। वहाँ जाकर जो भी उनके कर्म थे तदनुकूल उनको भोग और दण्ड की प्राप्ति हुई। अपने कर्मों का फल भोगकर वे पृथ्वी पर उत्पन्न हुए। कर्मों की महिमा से चाण्डाल के घर पैदा हो गये। चाण्डाली के गर्भ में आये, वहीं पैदा हुए, वहीं चाण्डालों के गाँव

में चाण्डालों के साथ ही खेलते हुए बड़े हुए। समय आने पर उनका विवाह हो गया। चाण्डाल का धंधा करते हुए ही कमाते रहे। बेटे भी हो गये, लड़कियाँ भी हो गईं। उम्र भी प्रौढ हो गई। लड़के लड़कियाँ बड़े हो गये, खुद बड़ी उमर के हो गये।

इस बीच बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। उस अकाल में उनके कुछ पुत्र और पुत्रियाँ मर गईं और पत्नी भी मर गई। अकाल की मार से बचने के लिए वे वहाँ से किसी बड़े शहर की ओर चले यह सोचकर कि वहाँ जाकर देखें कुछ काम इत्यादि मिल जाये तो खाने-पीने की सुविधा हो जाये। जैसे गाँव से सारे लोग दिल्ली आते हैं कि यहाँ पर कहीं न कहीं काम मिल जायेगा। ऐसे ही वे भी चले। रास्ते में जा रहे थे तो एक जंगल के पास से निकले तो अकस्मात् एक हाथी आया। उनको सूँड़ में उठाया और अपने ऊपर बैठा लिया। घबराकर वे इधर उधर देखने लगे तो पीछे घोड़े पर कुछ सवार आ रहे थे। उन्होंने आकर कहा आप हमारे देश के राजा बन गये। हमारे देश का राजा मर गया है और हमारे देश में रीति यह है कि जब राजा मर जाता है तो राजा का जो प्रधान हाथी होता है उसको छोड़ दिया जाता है। वह जिस व्यक्ति को चुन लेवे, वरण कर लेवे वही राजा हो जाता है। अपना-अपना चुनने का तरीका हुआ।

पुराने जमाने में चुनाव जन्म पर छोड़ देते थे। जो जिसके घर में जन्मा तो वह उसके काम का अधिकारी हो गया। अभी भी प्रायः बाकी सब कामों में तो यही होता है। कोई आदमी मुरब्बों का काम करता है, मुरब्बे की फैक्ट्री लगाता है। उसके बाद जो उसके घर पैदा हो गया वह उस मुरब्बे के काम का मालिक हो जाता है। किसी ने सूत का काम किया तो जो उसके घर पैदा हो गया वह सूतवाला हो जाता है। इसी प्रकार पुराने जमाने में जो राज्य करने वाले के घर में जन्म लेता था वह राज्य करने वाला हो जाता था। अब लोगों ने कहा 'नहीं जी पेट से पैदा होने वाले को हम राजा नहीं मानेंगे। जो पेटियों से पैदा होगा उसको राजा मानेंगे।' तो पेटियों में जिसके नाम के कागज ज्यादा पड़ गये वह राजा हो गया। पेट से नहीं तो पेटी से, कहीं न कहीं से तो राजा बनना ही हैं।

ऐसे ही उनके यहाँ पद्धति थी कि हाथी जिसको चुन लेवे वह राजा। लेकर गये। नहलाया धुलाया, अभिषेक किया और राजा बना दिया। राज्य में

धन इत्यादि पर्याप्त था इसलिये राजा बड़े आनन्द से रहने लगा। कहाँ भूखा मर रहा था और कहाँ अब राजा हो गया। सुन्दर-सुन्दर रानियाँ उसको भोग करने के लिये मिल गयीं। कहाँ वह एक पत्नी थी कुरूपा, वह भी मर गयी। बड़े आनन्द से रहते हुए आठ वर्ष व्यतीत हो गये। आठ साल तक ठीक चलता रहा उसका खेल।

एक दिन हाथी पर जा रहा था तो दूर पर उसे अपने गाँव के साथी दिखाई दिये। वे अन्य चाण्डाल लोग भी काम ढूँढने के लिए निकले होंगे। इसने उनको देखा। वहाँ तक तो ठीक था, लेकिन उन्होंने भी इसको देख लिया और उसका नाम लेकर बड़े जोर से दौड़ कर आये। सिपाहियों ने रोकने की भी कोशिश की उनको 'अरे तुम लोग कहाँ जा रहे हो चाण्डाल होकर।' लेकिन जो राजा से परिचित होवे वह क्यों रुकेंगे। उन्होंने जाकर उसका नाम लेकर कहा 'अरे बड़ा अच्छा हो गया तुम राजा बन गये। हम लोग भी यहीं बैठ जायें।' अब सब लोगों को पता लग गया कि अरे यह तो चाण्डाल है। तो रानियों के मन में भी बड़ी ग्लानि हुई कि हम लोगों ने इसके साथ रहकर समय बिताया। जो वहाँ बड़े-बड़े ब्राह्मण इत्यादि थे उनके मन में भी बड़ी ग्लानि हुई कि हम लोगों ने यहाँ रहकर इसके लिये कर्म कराये, इससे दक्षिणा ली, सब कुछ किया। उन सबके मन में बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने सोचा कि अब इसका प्रायश्चित्त तो यही करें कि अग्नि जला कर उसमें अपने को जला देवें।

उन्होंने चौराहे पर एक बहुत बड़ा अग्निकुण्ड बनाया और रानियाँ, ब्राह्मण इत्यादि जितने थे वे सारे के सारे उस अग्निकुण्ड में कूद गये प्रायश्चित्त रूप में। अब वहाँ जो राजा बना हुआ गाधि था उसके भी मन में बड़ा दुःख हुआ कि मेरे कारण इतने लोग मरे। पहले ही मैं इनको बतला देता। यह मैंने बड़ी ग़लती की स्वार्थ के वश में। अपने ऊपर अत्यन्त ग्लानि के होने के कारण इतने लोगों के जल मरने को सहन न कर पाने के कारण वह भी उसी अग्निकुण्ड में कूद गया कि मैं भी मर जाऊँ। अग्नि की ज्वालाएँ उसको जलाने लगीं। तो बेचारा अचेत हो गया, मूर्छित हो गया। उसके बाद जब उसको चेत आया तो वह गंगा जी में गोता लगाये हुए था। बड़ा घबराकर चारों तरफ देखने लगा कि कहाँ क्या है। उधर नज़र गई तो देखता है जिस धोती को रख कर नहाने आया था वह धोती वहीं पड़ी हुई है। सब जगह वह पहचानने लग गया। उसको बड़ा विस्मय

हुआ, आश्चर्य हुआ यह क्या हो गया ! परन्तु उसने यह बात किसी से कही नहीं, समझ गया कि इतने थोड़े से समय में यह सारा काम हो जाना, यही परमात्मा की शक्ति है। कपड़े बदलकर संध्यावंदन कर घर आ गया। अब घर में रहने लगा।कुछ समय बीत गया। एक दिन एक अतिथि आया। अतिथि को, जैसा नियम है, उसने भोजन कराया। बड़े प्रेम से उसको आराम करवाया। अब जब आराम कर रहा था तो दोनों थोड़ी बात करने लगे, बातचीत होने लगी। 'तुम कहाँ के रहने वाले हो ?' उसने कहा 'भाई मैं तो सर्वत्र दुनिया में घूमता रहता हूँ। एक जगह नहीं रहता।' उन्होंने कहा 'तुम दुनिया में घूमते रहते हो तो कोई बड़े आश्चर्य की बात, कोई नई बात होवे तो बताओ।' उसने कहा सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह हुई है कि मैं उत्तर कुरु के अन्दर था। वहाँ पर एक चाण्डाल राजा हो गया। आठ बरस तक राजा रहा उसके बाद लोगों को पता चला तो अनेक रानियों और ब्राह्मणों ने वहाँ पर अग्नि में जल कर प्राण छोड़ दिये और वह राजा भी उसी में कूद गया। मैं तो इस समय भी इतने लोगों के जलने को याद करता हूँ तो शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं कि इतने लोगों ने अपने आपको खत्म कर दिया। उसने कहा 'तुमने देखा था' अतिथि ने कहा 'हाँ, मैंने देखा था भाई ? झूठी बात नहीं है। बिलकुल सच्ची बात है। मैं वहीं मौज़ूद था जब यह काम हुआ।'

गाधि ने कहा 'भइया मेरे साथ चलोगे वह जगह दिखाने को।' वह बोला 'चलो।' तो वह अतिथि उसको उत्तर कुरु में ले गया। अब वह सब जगह गधि के पहचानने में आ रही हैं, सारा शहर उसके पहचानने में आ रहा है कि यह वही शहर था। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। वहाँ से फिर वह आगे चल कर उस चाण्डाल के गाँव को गया। वहाँ गया तो वह भी गाँव वैसा ही था। जो लोग सब वहाँ थे वे भी सब उसके पहचानने में आ गये। वापस लौट कर आया। यह जो परमेश्वर की माया है यह केवल एक व्यक्ति को नहीं दीखती। कई बार लोग समझते हैं कि जो माया की चीज़ होती है वह कोई एक आदमी देख लेता होगा। पर ऐसा नहीं है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'श्रुतिशतनिगमान्तशोधकानप्यहह धनादिनिदर्शनेन सद्यः।
कलुषयति चतुष्पदाद्यभिन्नानघटितघटनापटीयसी माया॥'

'श्रुतिशत' वेदों की सैकड़ों ऋचाओं को जानने वाले, *'निगमान्त'* वेदान्त सिद्धान्त को समझने वाले, *'शोधकान्'* उस पर अन्वेषण करने वाले। उन्हें भी *'धनादि-निदर्शनेन सद्यः'* सोच रहे हैं, समझ रहे हैं, निरन्तर जान रहे हैं, फिर भी धनादि से उनके मन को यह पारमेश्वरी शक्ति कलुषित कर देती है। और उन्हें पशुतुल्य बना डालती है। इस मायाशक्ति से ही परमेश्वर स्वयं जैसा है वैसा ही बना रहता है और प्रतीत होता है कि सारा जगत् उत्पन्न होकर विद्यमान है। परिणामदृष्टि में कारण में परिवर्तन आता है और सच्चा कार्य बनता है। विवर्तदृष्टि में ये दोनों नहीं होते। इसमें कारण ही एकमात्र सच्ची चीज़ है। अतः उस कारण को जान लेने पर उसमें कल्पित सभी का सही-सही ज्ञान हो जाना स्वाभाविक है। इसी लिये वेदान्तों में प्रसिद्ध है कि एक परमात्मा के ज्ञान से ही सर्वविज्ञान की प्राप्ति होती है। उसी प्रसिद्धि से जानकर ही यहाँ प्रश्न उठाया है कि किसे जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है। अंगिरस् ने इसका क्या उत्तर दिया—इस पर आगे विचार करेंगे।

सप्तम प्रवचन

(२९ नवम्बर १९८८)

अथर्ववेद की मुण्डकोपनिषद् के आधार पर पराविद्या का विचार कर रहे थे। अब तक यह बताया गया कि किस प्रकार से शौनक महर्षि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी विधिपूर्वक अङ्गिरस् के पास जाकर उस अनुभव को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करते हैं जिसके साक्षात्कार करने से सब कुछ जान लिया जाता है। उसको जान लेने के बाद कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता। अब अङ्गिरस् महर्षि शौनक को जबाब देते हैं—

'तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म
यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥'

ऐसे विधिपूर्वक आये हुए शौनक महर्षि के प्रति यह प्रसिद्ध है कि अङ्गिरस् महर्षि ने यह जवाब दिया। यह जवाब देने का तरीका अन्यत्र भी श्रुतियों में आया था इसलिये प्रसिद्ध है। इस संसार में दो प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं, जो जानने लायक हैं। अब हमारे मन में शंका होती है कि दो ही विद्या कैसे जानने लायक हैं? हमारे चौथी कक्षा के बच्चे सत्रह विषयों की किताबें लेकर स्कूल जाते हैं। इसलिये दो ही विद्याएँ जानने लायक हैं, यह कैसी बात है। इसलिये कहा 'ब्रह्मविदो वदन्ति' वेद के अर्थ को जानने वाले, जो वास्तविक चीज़ को जानने वाले हैं, उनका यह कहना है अर्थात् वेदज्ञान दो विषयों का ही ज्ञान है, बाकी सब लौकिक ज्ञान हैं। वेद के रहस्य को जानने वाले बताते हैं कि दो ही विद्याएँ हैं क्योंकि वे पर-मार्थदर्शी हैं। वे इस बात को जानते हैं कि जीव का वास्तविक कल्याण किसमें हैं। संसार के चक्र में फँसाने वाले ज्ञानों को ज्ञान नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के विषय में कहा जाये कि यह बड़ा विद्वान् है। किस विषय में विद्वान् है? चोरी के विषय में माहिर है। बड़ी से बड़ी तिजोरी तोड़ सकता है। अब तक तेरह बार जेल जा चुका है और केवल २७ साल उम्र है। तो क्या यह बात गले उतरेगी कि यह व्यक्ति बड़ा विद्वान् है? आप कहेंगे कि यह तो बड़ा अज्ञानी है। यह क्या ज्ञान हुआ! यह तो बड़ा बुरा ज्ञान है इसलिये छोड़ो इसे। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति के बारे में कहा जाये कि यह व्यक्ति बड़ा

कुशल है। यह एक हजार रुपये में ही किसी की भी गर्दन काट सकता है। किसी की तरफ भी उंगली उठा दो तो काम बना देता है। तो उसको ज्ञानी मानोगे या अज्ञानी ? इसलिये ज्ञान का मतलब उस चीज को जानना है जो कल्याण करे। उसको नहीं जानना चाहिये जो अकल्याण करे।

अब विचार करो, संसार के जितने ज्ञान हैं ये बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फँसाते हैं। इसलिये ये तो नुकसान करते हैं। ठीक है, इस ज्ञान से कुछ समय के लिये धन आ जाता है, लेकिन यह धन-दौलत कोई परमार्थ करने वाला नहीं है, क्योंकि यह बार-बार जन्म-मरण के चक्र में डालता है। विचार करो कि आप लोग किस वकील को श्रेष्ठ मानते हो ? जो तुम्हारी सही वकालत करे अथवा वह जो तुम्हारे झूठा मुकदमा लड़े उसे। गाँधी जी दक्षिणी अफ्रीका वकालत करने गये थे। लेकिन वे कहते थे, मैं झूठा मुकदमा नहीं लड़ूँगा, इसलिये उनको वापस आना पड़ा। वे वकालत में सफल नहीं हो पाये भले ही राजनीति में सफल हो गये। इसलिये वकालत का जो विद्यालय है वह क्या किसी परमार्थ को सिखाने वाला है, या वह अपरमार्थ के लिए है ? किसी के लड़के की भर्ती चार्टर्ड एकाउंटेंसी में हो जाये तो वह बड़ा प्रसन्न होकर कहता है 'हमारा लड़का चार्टर्ड एकाउंटेंसी में भर्ती हो गया है। उसमें पाँच हजार बच्चों में दो ही चुने जाते हैं। हमारा बच्चा चुन लिया गया है।' लेकिन वह लोगों को झूठे हिसाब-किताब बताने के लिए ही तो चुना गया है। क्योंकि आगे उत्तीर्ण होकर जन्म भर लोगों को चोरी और ठगना ही तो है। यदि वह कहे कि मैं ठीक हिसाब-किताब ही लिखूँगा तो उसको कौन रखेगा। इसलिए जो परमार्थी हैं वे सब इसको विद्या नहीं मानते। दो ही विद्याएँ हैं जो मनुष्य का कल्याण करती हैं। कौन-कौन सी हैं वे विद्याएँ— 'परा चैवापरा च।'

परमात्मा को जानने वाली विद्या पराविद्या कही जाती है। अपराविद्या वह है जो तुम्हें धर्म और अधर्म, कर्तव्य और अकर्तव्य को बतावे। कर्म के साधनों को बताये, धर्म के विषय में बताये। अपराविद्या वह है जो तुमको कर्तव्य और अकर्तव्य बतलाती है, क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। जो करना चाहिये उसका तरीका क्या है और उसका फल क्या है। इन सब को बताने वाली को अपराविद्या कहते हैं। क्या कर्तव्य है और क्या ज्ञातव्य है, बस इन्हें बताने वाली दो ही विद्याएँ हैं। मनुष्य क्या है ? ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति

वाला है। ज्ञानशक्ति से जानते हैं और क्रियाशक्ति के द्वारा करते हैं। जब तक जान है तब तक कुछ जान रहे हो अथवा क्रिया कर रहे हो। कोई भी क्षण ऐसा नहीं जब कोई न कोई काम न कर रहे हो या कुछ जान न रहे हो। परन्तु क्या करना चाहिये और क्या जानना चाहिये, यह नहीं जानते। इसलिये हमेशा अपना ही नुकसान करते हैं। हम उन चीजों को जानते हैं जो नुकसान करें।

वेद ही ऐसी विद्या है जो क्या करना चाहिये यह बतलाता है। अङ्गिरस् ने शौनक से कहा कि केवल दो ही विद्याएँ जानने लायक हैं। यह सुनकर शौनक के मन में संदेह होना सहज ही था। उन्होंने सोचा मैंने पूछा था कि किसको जानने से सब कुछ जान लिया जाता है, लेकिन ये जवाब दूसरा दे रहे हैं। जो बात पूछी नहीं है उसको बोलने लगे हैं। यह बात ठीक नहीं। इसके पीछे रहस्य है। क्या जानने से सब नहीं जाना जाता, यह कहना ज़रा ठीक है, यह कहने से पहले कि क्या जानने से सब कुछ जाना जाता है।

'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।'

दो विद्याएँ ही जानने लायक हैं। उसमें अपराविद्या क्या है? ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और चारों वेदों के अर्थ लगाने के जो साधन शिक्षा आदि। शिक्षा अर्थात् वेद के उच्चारण का ढंग। एक ही शब्द दो प्रकार के उच्चारण से दो प्रकार का अर्थ देता है। इसलिये वेद को जानने के लिए ज़रूरी है कि यह जाना जाये कि उच्चारण कैसे होना चाहिये। एक ही शब्द है इन्द्रशत्रु। इसे आद्युदात्त बोलें तो अन्य अर्थ होता है और अन्त्योदात्त बोलें तो अन्य ही अर्थ हो जाता है। यद्यपि संसार की सभी भाषाओं में उच्चारणभेद होता है। परन्तु वेद में यह जानना बहुत ज़रूरी है। अन्यथा वेद को समझ नहीं पाओगे। अन्य भाषाओं में सांसारिक बातों को बताया जाता है इसलिये यदि उसको नहीं समझोगे तो केवल सांसारिक हानि ही होगी। परन्तु वेद धर्म के भाव को बताता है इसलिए यदि इसको समझने से चूक गये तो भारी नुकसान उठाओगे। जितना भी धार्मिक कर्म पूजा, हवन आदि है सब को करने का तरीका जिन ग्रन्थों में बताया गया है वे कल्पसूत्र हैं। व्याकरण वेद के पदों को कैसे समझा जाये यह बताता है। निरुक्त शब्दों के अर्थ लगाने का तरीका है। वैदिक

मंत्रों में अक्षरविन्यास के नियम छन्दःशास्त्र से जाने जाते हैं। कर्म के लिये उचित समय को निर्धारित करने के लिए ज्योतिष का प्रयोग है। ये जो छह हैं ये वेदों का अर्थ लगाने के लिए ज़रूरी हैं। चारों वेद धर्म और अधर्म को बतलाने वाले हैं। अब ये सारे के सारे अपराविद्या में गिने गये।

शंका होती है कि वेद है तो ब्रह्म को बतलाने वाला। यदि वेद ने जो बताया वह सब अपराविद्या है तो क्या ज्ञान वेद से विपरीत नहीं? स्मृतियों में बताया है कि वेद से बहिर्भूत जो चीज़ होती है वह नुकसान का कारण होती है। यह भी तो वेद के अन्तर्गत ही है। उपनिषद् आदि भी वेद आदि से बाहर नहीं हैं। यदि इन सबको अपराविद्या कह दिया तो बचा क्या? परा-विद्या किसको कहेंगे? परन्तु पराविद्या उसको कहते हैं जिससे परमेश्वर की प्राप्ति हो अर्थात् साक्षात्कार होता है।

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।'

शब्द वेदों के ही हैं। उपनिषद् के पढ़ने में जो ज्ञान है वह अपराविद्या है। इससे साक्षात्कार नहीं होता है। उसी में बताये हुए का साक्षात्कार जिससे होता है, उसको पराविद्या कहते हैं। धर्म अपराविद्या है और साक्षात्कार को पराविद्या कहते हैं। शब्दज्ञान को अपराविद्या और ब्रह्मसाक्षात्कार को पराविद्या कहते हैं। यह समझना ज़रूरी है। क्योंकि प्रायः लोग यह समझते हैं कि शब्द का ज्ञान हो गया तो विषय जान लिया। लेकिन इसके द्वारा लोग ज्ञानी नहीं होते। जो शास्त्र को पढ़ता है समझता भी है, लेकिन किसलिये? भोगों की प्राप्ति के लिये, वह पराविद्या वाला नहीं है। शिल्पिवत् भाव से लोग शास्त्र का अध्ययन करते हैं। जैसे एक कारीगर बड़ी सुन्दर मूर्ति बनाता है, जिससे उसको बेचने से अर्थ की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से मकान बनाने वाला बढ़िया मकान बनाता है, लेकिन रहने के लिये नहीं, बल्कि उससे अर्थ प्राप्त होता है। इसी प्रकार लोग शास्त्र को पढ़ते हैं, समझते हैं, लेकिन शिल्पी की तरह; जीवन में उसको लाने के लिये नहीं। ऐसे लोगों को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। वेदादि शास्त्रों को बहुत से लोग पढ़ते हैं लेकिन उसको जीवन में उतारने के लिए नहीं। ऐसे लोगों के कर्मस्पन्दों में ज्ञान फलित हुआ नहीं दीखता। मोटी भाषा में समझने के लिये— आपने कथा सुनी। वही कहा गया कि सबके अन्दर रहने वाला एक आत्मा है। आपने कहा 'हाँ

जी महाराजजी।' कथा सुनकर उतरे, उस पर विचार भी कर रहे हैं। वापस आने के लिये रिक्शा किया। उससे उतरे। रिक्शेवाले ने कहा छह आने हुआ। अब आप रोज़ आते हैं और रोज़ छह आने देते भी हैं। लेकिन रोज़ रिक्शे वाला दस आना माँगता था इसलिए उसे छह आने देते थे। आज रिक्शे वाले ने छह आने कहा, फिर भी हम कहते हैं कि 'अरे तुम तो ज्यादा माँग रहे हो भाई, चार आना ले लो।' अब अगर कोई धीरे से पूछे 'यदि ऐसा ही व्यवहार तुमसे किया जाये तो।' हम दूसरे के साथ वह व्यवहार कर रहे हैं जो अपने साथ नहीं करवाना चाहते।

इसी प्रकार किसी वैश्य के यहाँ पंडित जी आये। तुमने कहा पंडित जी भोजन कर लो। पंडित जी कहते हैं 'नहीं मैं आपके हाथ का बना हुआ भोजन नहीं करूँगा।' तुम कहते हो 'इसमें क्या है पंडित जी, हम तो शुद्ध ढंग से भोजन बना कर दे रहे हैं। पूरी तरह से सफाई रखते हैं। हमारे में क्या कमी है?' अन्त में पंडित जी कह देते हैं 'नहीं, रहने दो, हमें आज भूख नहीं है।' अब विचार करो, तुम यह नहीं चाहते कि ब्राह्मण तुम्हें यह कहे कि मैं तुम्हारे हाथ का बना नहीं खाता। अब यदि कोई चमार तुमसे कह दे 'मेरे यहाँ खा लो हमने बड़ी सफाई से बनाया है।' तो तुम नहीं खाते। यदि तुम नहीं चाहते कि ब्राह्मण तुम्हें कहे कि मैं तुम्हारे हाथ का बनाया हुआ खाना नहीं खाऊँगा तो यदि चमार ने कहा है तो कौन-सा गलत कह दिया।

एक आत्मा है इस बात को जो जानने वाले हैं उन्हें यदि कोई कहे मुझे मत छुओ तो यह कहना बुरा लगता है तो दूसरों को वे ऐसा कहेंगे तो उनको भी बुरा लगेगा। पर इसका उन्हे ख्याल नहीं। इस प्रकार सारे व्यवहार में दिन में कितनी बार कर्मस्पन्दन होता है एक आत्मा का? इसी प्रकार देवरानी और जेठानी भी अपने बच्चों में यही सोचती हैं कि मैं अपने की चिन्ता करूँ वह अपने की करे। कथा सुनी, यह सुना कि आत्मा एक है, मन में भी जँचा कि आत्मा एक है लेकिन कर्मस्पन्दों में नहीं है। देवरानी सोचती है मैं अपने की चिन्ता करूँ, जेठानी अपने की करेगी। इसी प्रकार से सब बातें हैं। हम पाठ करते हैं गीता का। भगवान् ने क्रोध को महान् वैरी बताया है। लेकिन हमें छोटी से छोटी बात पर क्रोध आता है, तो कर्मस्पन्द कहाँ हुआ? इसीलिये कहा कि कर्मस्पन्दों में जिसका ज्ञान फलीभूत नहीं होता, व्यसन आदि भोग्य पदार्थों की उपलब्धि से

सन्तुष्ट हो जाये, वह ज्ञानबन्धु कहा जाता है। ज्ञानबन्धु अपराविद्या को प्राप्त कर सकता है परन्तु पराविद्या को नहीं। आचार्य शंकर कहते हैं--- मनुष्य बढ़िया से बढ़िया वीणा बजाना, गान करना भी जानता है तो उसको देखकर राजा उपहार दे देगा, परन्तु वह अपना राज्य तो नहीं दे देगा। इस प्रकार जो परमात्मा को जीवन में नहीं लाता उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

एक बार देवताओं में एक प्रतियोगिता हुई। उन्होंने कहा हम एक यज्ञ करेंगे जिसमें सभी को कार्य करना पड़ेगा। यज्ञ समाप्त होने पर जो नहीं थकेगा वही श्रेष्ठ होगा। इस प्रकार वह यज्ञ समाप्त हुआ और अन्त में भगवान् विष्णु ही नहीं थके। अग्नि ने शार्ङ्ग नामक धनुष दिया और कहा कि इसका प्रयोग जिस पर करोगे, निश्चित रूप से यह उसे मार देगा। विष्णु थके हुए थे, धनुष पाने पर उन्होंने सोचा पहले देवताओं को ही मार कर देखा जाये। वे देवताओं को मारने चले। देवता लोग भागे। वे भगवान् शंकर की शरण में गये। भगवान् शंकर ने कहा थोड़े समय तक छिपे रहो। भगवान् ढूँढ़ते हुए दक्षिण भारत पहुँचे। वे थके हुए थे ही। भगवान् शंकर ने उन पर तिरोधान शक्ति नामक शक्ति का प्रयोग कर दिया। जिससे वे थक कर लेट गये और धनुष को सिर के नीचे रख लिया। उनको नींद आ गयी। भगवान् शंकर ने कहा अब सो गये अब काम हो जायेगा। भगवान् शंकर वल्मीक (बाँबी) का रूप लेकर स्थिर हो गये। देवता लोग चींटियाँ (दीमक) बन गये। वे लोग धनुष को काटने लगे। धनुष की डोरी कट गयी तो क्योंकि धनुष तना था इसलिए जोर से सीधा हो गया, जिससे भगवान् विष्णु का सिर कट गया। उनके सिर कट जाने पर लक्ष्मी जी ने भगवान् शंकर से प्रार्थना की। भगवान् शंकर ने कहा 'सिर को दुबारा जोड़ देते हैं।' उन्होंने सिर को धड़ से जोड़ दिया। भगवान् विष्णु ने भगवान् शंकर की वल्मीकनाथ नाम से प्रार्थना की क्योंकि वे वल्मीक रूप में ही थे। लक्ष्मी जी ने और भगवान् विष्णु ने वर माँगा 'हमें एक पुत्र हो।' लक्ष्मी जी ने पहले भी भगवान् शंकर से ही प्रार्थना की थी। उन्होंने देवी जी की ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिये उन्होंने नाराज होकर शाप दिया 'इनके आशीर्वाद से पुत्र तो होगा लेकिन वह जल कर मर जायेगा।' इसलिए भगवान् विष्णु और लक्ष्मी दोनों ने मिलकर पार्वती जी भगवान् शंकर और उनके पुत्र कार्तिकेय तीनों का पूजन किया। जिससे भगवती प्रसन्न हो गयीं। उन्होंने कहा मेरे शाप से वह

जलेगा तो, लेकिन फिर बच जायेगा। इस प्रकार भगवान् विष्णु के पुत्र कामदेव (मन्मथ) हुए। वे भगवान् शंकर के तीसरे नेत्र से जले। लेकिन पुनः जीवित हो गये। परन्तु वह अनंग रहा इसीलिए काम का कोई निश्चित अंग नहीं होता।

इन्द्र के ऊपर जब दैत्यों ने चढ़ाई की तो भगवान् विष्णु ने उन्हें सोमस्कन्ध की मूर्ति को दिया और कहा 'इसकी पूजा करो विजय होगी।' इन्द्र ने पूजा की तो भगवान् विष्णु ने मुचुकुन्द को इन्द्र की सहायता के लिये भेजा। मुचुकुन्द की सहायता से इन्द्र दैत्यों पर विजयी हुए। विजयी होने पर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए। इन्द्र ने कहा 'तुम मेरे राज्यचिह्न– श्वेतछत्र, कल्पवृक्ष व कामधेनु– को छोड़कर जो चाहो माँग लो।' इसके पहले ही दिन इन्द्र को उन्होंने सोमस्कन्ध की पूजा करते हुए देखा था। इन्द्र ने न माँगने वाली वस्तुओं में मूर्ति तो गिनाई नहीं थी। इसलिये उसने कहा कि 'सोमस्कन्ध की मूर्ति हमें दे दो।' इन्द्र ने सोचा यह मूर्ति तो भगवान् विष्णु से मिली थी। इसी से तो मुझे विजय मिली। इसको तो नहीं देना है। सब चीजों में मैंने इसको गिनाया ही नहीं, यह तो बड़ी भारी भूल हो गयी। इन्द्र ने कहा ठीक है यह मूर्ति मैं तुम्हें कल दूँगा। इन्द्र ने अपनी माया के द्वारा ठीक उसी तरह की छह मूर्तियां बना दीं। सातों मूर्तियों को वहाँ रख दिया। इन्द्र का मतलब था 'मैं इनसे कहूँगा जो पसन्द हो ले जाओ, तो ये पहचान नहीं पायेंगे।' परन्तु मुचुकुन्द भगवान् शंकर का भक्त था। उन्होंने स्वप्न में बता दिया कि अमुक सुगन्ध वाली मूर्ति ही असली मूर्ति है। अगले दिन इन्द्र ने सातों मूर्तियाँ सामने रख दीं। मुचुकुन्द ने सुगन्ध से पहचान लिया कि कौन सी मूर्ति असली है। इन्द्र को बड़ी शर्म आयी। शर्म के मारे इन्द्र ने कहा 'आप सातों मूर्तियाँ ले जायें।' मुचुकुन्द सातों मूर्तियों को ले आया। मूल मूर्ति को जहाँ मिली थी वहाँ स्थापित कर दिया और बाकी मूर्तियों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थापित कर दिया। इस प्रकार वह मूर्ति पुनः पृथ्वी पर आ गयी।

इन्द्रियों को भी देव कहा जाता है। देवताओं में कौन श्रेष्ठ है, कौन सी चीज नहीं थकती ? 'मैं' का ज्ञान कभी नहीं थकता। आँख, कान, नाक आदि स-भी थक जाते हैं, लेकिन 'मैं' का ज्ञान कभी नहीं थकता। इसलिये 'मैं' को श्रेष्ठता मिली। मैं चाहता है मेरा सबके ऊपर नियंत्रण हो जाये। जबकि मैं तो खुद ही एक वृत्ति है। इसलिये देवता शंकर के पास गये। शरीर के अन्दर चेतन रूपी सिर है। जब हम पहले जानने में प्रवृत्त होते हैं तो जड शरीरादि व उससे मिले

जुले चेतन को पृथक् नहीं जान पाते। जब दोनों अलग हो गये तब पता लगा। अब उन्हें व्यवहार के लिये पुनः जोड़ दिया जाता है। व्यवहार करोगे तो जड और चेतन दोनों रहेंगे। परन्तु अलग करने से दोनों को जान लिया। उन्हीं से मन्मथ उत्पन्न होता है। जब व्यवहार करते हो तो कामना की आवश्यकता होती है। परन्तु कामना ऐसी होनी चाहिये जो जल चुकी हो। जला हुआ ही काम होना चाहिये। इसलिये किसी चीज की कामना हो तो पहले कामना को जला लो, तभी व्यवहार करो। ऐसा जो सोमस्कन्ध वह इन्द्र की ही भाँति मदद करता है और पार्थिव शरीर में भी आता है। वह फल पाता है तो इच्छाओं से व्यवहार करते समय अन्तःशीतल रहता है। जब पराविद्या की प्राप्ति हो गयी तो अन्तःशीतल ही रहता है। कामना होने पर भी वह शीतल ही है। कामना पूरी ही हो ऐसी लपट नहीं उठती।उसकी शान्ति अकृत्रिम है।साधारण मनुष्य के अन्दर अशान्ति और बाहर शान्ति होती है। साधक विचार करता है तो शान्ति होती है परन्तु जो बिना कुछ किये ही शान्त रहता है वही ज्ञानी है।

श्रवण मनन से जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह पराविद्या है। उससे तत्त्व का ज्ञान मिल जाता है। यहाँ वेद शब्द से वेदों के शब्द कहे गये हैं। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'वेदशब्देन तु सर्वत्र शब्दराशिर्विवक्षितः।

अपराविद्या के विषय वेद के अक्षर ही हैं। शब्दराशि तो सब अपराविद्या में आ गयी। जो साक्षात् ब्रह्म का ज्ञान देते हैं वे शब्द भी पराविद्या हैं। कर्मविषयक बोध की अपेक्षा अधिक प्रयत्न करने से ही वेदशब्दों से ब्रह्मविषयक बोध मिलता है, यह सूचित करने के लिये अपरा से परा को पृथक् कर दिया होने से उपनिषदों की अवैदिकता भी नहीं होती।

वेद कैसा है ? उसमें समग्र बातों का प्रकटन करने की शक्ति सहज है। वेद में यह सामर्थ्य कहीं से आयी नहीं है। कार्य से पता चल जाता है कि सब चीज़ों का ज्ञान उससे हो जाता है। वह सबका— शेष का भी, अशेष का भी— प्रकाशन करता है। परमात्मा अशेष है। सब चीजें परमात्मा के लिये हैं पर वह किसी के लिये नहीं है। अतः मोक्ष भी परमात्मरूप है। उस अशेष परमात्मा का प्रतिपादक वेद पराविद्या कहा जा सकता है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ पर लक्ष्यार्थ

से उस परमार्थतत्त्व का प्रकाशन होता है वहाँ पराविद्या हो जाती है। वेद जब परमात्मा का साक्षात्कार करा दे तब पराविद्या है और उसके अतिरिक्त किसी का प्रकाशन करे तो वही अपराविद्या है। पराविद्या ही वस्तुतः ज्ञान है।

एकमात्र पराविद्या से जो परमात्मा का ज्ञान होता है वही एकमात्र ज्ञान है। उससे भिन्न तो सब ज्ञान का आभास मात्र है। ज्ञान नहीं। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि मूल अज्ञान को हटाये बिना ही ये ज्ञान हो जाते हैं।

सपने में सड़क पर जा रहे थे तो एक साँप दिखाई दिया। हमने टार्च जलाकर देखा तो पता लगा कि वह साँप नहीं रस्सी है। इस प्रकार हमको ज्ञान हो गया कि वह साँप नहीं रस्सी है। लेकिन आँख खुलने पर पता चला कि वहाँ तो रस्सी भी नहीं है! जिस प्रकार उस समय लग रहा था कि साँप नहीं रस्सी है किन्तु जगने पर पता चला कि वहाँ पर तो रस्सी भी नहीं है, इसी प्रकार यद्यपि परमात्मज्ञान के पहले लगता है कि ज्ञान हो गया लेकिन वह भी ज्ञान का आभास मात्र है। क्योंकि उस समय निद्रा का मूल अज्ञान नहीं गया है। मूल अज्ञान है परमात्मा को न जानना। क्योंकि जो सच्ची चीज है उसको नहीं जानते इसीलिये उसको परा अविद्या समझना चाहिये, अतः ज्ञानाभास— अपराविद्या है।

अष्टम प्रवचन

(२८ नवम्बर १९८८)

मुण्डकोपनिषत् के आधार पर पराविद्या का विचार कर रहे थे। कल बतलाया कि वेदों का जो वाच्यार्थ है वह अपराविद्या है और जो उसका निहित तत्त्व है, लक्ष्यार्थ है, वह पराविद्या है। जिसके द्वारा उस अक्षर ब्रह्म की अधिगति होती है अर्थात् प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा उसको समझा जाता है, जिसके द्वारा उसकी परोक्षता का पता लगता है, परोक्ष रूप से पता लगता है, वह अपराविद्या है। जो उसका साक्षात्कार होता है वह पराविद्या है। अब जिसका साक्षात्कार होता है उसका रूप बतलाते हैं।

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।"

वह तत्त्व कैसा है ? '*यत्तद् अद्रेश्यं* अर्थात् अदृश्य है। किसी भी ज्ञानेन्द्रिय से उसको जाना नहीं जा सकता। आँख, कान, नाक इत्यादि उसको जानने में असमर्थ हैं। क्यों ? ज्ञानेन्द्रियाँ रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श वाले विषय को ही जान सकती हैं। आँख रूप को ही जान सकती है, कान शब्द को ही जान सकता है। चूंकि वह परमतत्त्व रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श से रहित है इसलिये वह अद्रेश्य है, ज्ञानेन्द्रियों का अविषय है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उसको नहीं जाना जा सकता। रूप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्शादि पंच महाभूतों में ही रहते हैं, रह सकते हैं।

जहाँ अग्नितत्त्व होगा वहीं रूप रहेगा। जहाँ पृथ्वीतत्त्व होगा वहीं गंध रहेगा। जहाँ वायुतत्त्व होगा वहीं स्पर्श रहेगा। जहाँ आकाशतत्त्व होगा वहीं शब्द रहेगा। जहाँ जलतत्त्व होगा वहीं रस रहेगा। तो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादि वहीं रहेंगे, जहाँ पर पंचमहाभूत होंगे। क्योंकि गुण हमेशा गुणी में रहता है। गुण वाला द्रव्य जहाँ होगा वहीं उस द्रव्य में रहनेवाला गुण भी रहेगा। बिना द्रव्य के आधार के गुण नहीं रह सकता और इसलिये जहाँ पंचमहाभूत होंगे वहीं पर रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श ये गुण रहेंगे।

यह महाभूत परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। आत्मा से ही आकाश, वायु, अग्नि, जल उत्पन्न होते हैं। इनके उत्पन्न होने के पहले परमात्मा है। अतः वह

रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श वाला नहीं हो सकता। इससे जो कार्य उत्पन्न होगा वह तो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श वाला है, परन्तु-कारण रूप से परमात्मा में ये रह नहीं सकते क्योंकि ये आगे उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार से पुत्र उत्पन्न हो गया तो देवदत्त पिता हो गया परन्तु पुत्र उत्पन्न होने के पहले तो देवदत्त उसका पिता नहीं न है।

अतः यदि देवदत्त ने पच्चीस साल की उम्र में विवाह किया तो पच्चीस साल की उम्र तक वह बिना पुत्र वाला था। देवदत्त का पुत्र विवाह करने पर ही उत्पन्न होगा। पुत्र होने के पहले देवदत्त तो था ही, परन्तु देवदत्त बिना पुत्र वाला था। इस प्रकार से आकाशादि की उत्पत्ति के पहले परमात्मा तो है ही। इसीलिये वह आकाशादि को उत्पन्न करेगा। इसके पहले परमात्मा तो है ही परन्तु आकाशादि वाला तो नहीं है। और चूँकि आकाशादि वाला नहीं है, अतः आकाशादि के गुण, रूप, रस आदि वाला नहीं है। इसलिये कहा "यत्तद् अद्रेश्यं" वह किसी भी ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं, क्योंकि आकाशादि की उत्पत्ति के बाद ही आकाशादि के गुण उसमें प्रतीत हो सकते हैं, उसके पहले नहीं। जब शास्त्र परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन करता है तो दो प्रकार से उसको करना पड़ता है। एक प्रकार तो है परमात्मा के विषय में जो तुम्हारे भ्रान्त विचार हैं उनको हटाना अर्थात् तुमने परमात्मा के विषय में जो कल्पनाएँ कर रखी हैं, जो गलत विचार कर रखे हैं, उन विचारों को हटाना जरूरी है।

परमात्मा कैसा है, इस बात को बतलाना पहली चीज है।

"यदिह किंचिदबोधसमुद्भवं तदखिलं प्रतिषेधति केवलम्।"

सर्वज्ञात्म महामुनि कहते हैं—"यदिह किंचिद् अबोध समुद्भवम्"। अबोध अर्थात् अज्ञान। परमात्मा का अज्ञान होने के कारण परमात्मा के विषय में अनेक चीजों की कल्पना करते हो। जो कुछ भी अज्ञान के द्वारा तुमने परमात्मा पर आरोपित कर रखा है, "तद् अखिलं प्रतिषेधति केवलं" उन सब का प्रतिषेध करना, 'परमात्मा ऐसा नहीं है' यह बताना जरूरी है।

सामान्यतः हमारा अनुभव है कि चीज वह होती है जो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श वाली होवे। इनमें से किसी न किसी गुण वाली चीज को ही हम पदार्थ समझते हैं, और यह ठीक भी है। संसार ने हमको जितना अनुभव दिया

है वह सारा का सारा अनुभव रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के आधार पर ही है। जो चीज इन सब से रहित हो वह कभी अनुभव में आयी नहीं। अतः जब सुनते हैं कि परमात्मा है, तो तुरन्त मन में होता है उसका कोई रूप होगा। अतः उसका निषेध करना जरूरी है। इसलिये उस परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा कि "यत्तद् अद्रेश्यं" वह इन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषय किया नहीं जा सकता। आत्मा अन्तःकरण में आरूढ होकर इंद्रियों के द्वारा बाहर जाकर पादार्थों को जानता है। इसी का नाम जाग्रद् अवस्था है। आत्मा बिना अन्तःकरण के कहीं आ जा नहीं सकता। ऐसे समझ लो, आकाश सर्वव्यापक है। सर्वव्यापक आकाश में रखी हुई चीज को तुम इधर-उधर नहीं ले जा सकते, परन्तु घड़े के अन्दर रखा हुआ जो दूध है उसे ला— ले जा सकते हो। घड़े में दूध है, अर्थात् घड़े के अन्दर जो खाली जगह है उसके अन्दर दूध है। 'घड़े में दूध है' का मत-लब है 'घटाकाश में दूध है'। अब घटाकाश में रखे हुए दूध को तुम घड़े को इधर-उधर ले जा कर इधर-उधर ले जा सकते हो। इसी प्रकार व्यापक आत्मा न किसी चीज को जानने के लिए प्रवृत्त हो सकता है, न जा सकता है। परन्तु वही आत्मा अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित हुआ-हुआ, अन्तःकरणावछिन्न हुआ-हुआ, पदार्थों को जानने के लिये जा सकता है। अन्तःकरण में आरूढ आत्मा जब इंद्रियों के द्वारा, आँख, कान, नाक के द्वारा बाहर जाता है तो बाह्य विषयों को ग्रहण करता है। बिना इंद्रियों के बाह्य विषयों को आत्मा ग्रहण नहीं करेगा। केवल अन्तःकरणविशिष्ट हुआ हुआ भी नहीं करेगा।

जाग्रत् अवस्था का लक्षण ही है इंद्रियों के द्वारा बाह्य विषयों का ग्रहण। विषयों को तो तुम सपने में भी देखते हो। सपने में भी तुमको ऐसे ही लोग बैठे हुए दीखते हैं, सपने में भी ऐसी ही मोटरें डीज़ल छोड़ती हुई जाती हैं। सपने में भी ऐसा ही शोर मचता है। परन्तु सपने का शोर, सपने का धुआँ, तुम्हारे मन में ही है, मन के बाहर नहीं है। क्योंकि इंद्रियाँ उस समय कार्य कर नहीं रही हैं, इसलिए इंद्रियों के द्वारा तुम वहाँ बाहर जा नहीं रहे हो। ऐसा नहीं होता है कि जी आज हमने सपना देखा परन्तु क्या बतावें चश्मा लगाना भूल गये थे इसलिये साफ नहीं दीखा। अथवा आज सपने में हमने बड़ा अच्छा प्रवचन सुना परन्तु सुनने का यंत्र (हियरिंग् एड) ले जाना भूल गये थे, इसलिये साफ नहीं सुनाई पड़ा। ऐसा तो नहीं है न? यदि सपने में तुम कान और आँख के द्वारा

विषयों का ग्रहण करते होते तो चशमे का, सुनने के यंत्र का फरक पड़ता। परन्तु वहाँ तो बाह्य किसी विषय को ग्रहण कर नहीं रहे हो। अतः जाग्रत् के अन्दर इंद्रियों से विषयों की उपलब्धि होती है। स्वप्न में इंद्रियों से विषयों की उपलब्धि नहीं, केवल अन्तःकरणमात्र से है।

कभी-कभी दिन-दहाड़े बैठे हुए भी बिना इंद्रियों के विषय देखने लगते हो। मोटर में बैठ कर जा रहे हो, अकस्मात् तुमको याद आ जाता है कलकत्ता के बाग बजार का रसगुल्ला। मन में तुमको लगने लगता है बड़ा मुलायम-मुलायम कुछ है। जगे बैठे हो, सोये नहीं हो, परन्तु वहाँ उस रसगुल्ले को इंद्रियों के द्वारा तो ग्रहण कर नहीं रहे हो। इसीलिये यदि किसी को कहोगे तो वह तुरन्त जवाब देगा 'सपना देख रहे हो क्या ?'

बिना इंद्रियों के विषयों का ग्रहण चाहे बैठ कर करो, चाहे नींद लेकर करो, वह सपना है। इंद्रियों के द्वारा जब बाह्य विषयों का ग्रहण करते हो तब जाग्रत् है। परमात्मा का ग्रहण इसीलिये न जाग्रत् रूप माना जाता है, न स्वप्न रूप माना जाता है, न सुषुप्ति रूप माना जाता है। वह तुरीय रूप माना जाता है क्योंकि परमात्मा का अनुभव इन्द्रियों से भी नहीं, परमात्मा का अनुभव अन्तःकरण से भी नहीं, और परमात्मा का अनुभव इंद्रिय और अन्तःकरणों के न रहने पर भी नहीं, क्योंकि सुषुप्ति का अनुभव तब होगा जब इंद्रिय और अन्तःकरण दोनों हैं नहीं। परमात्मा का अनुभव होने के लिए तुम्हारी इंद्रियाँ भी कार्यकारी होती हैं, इसलिये जाग्रत् अवस्था नहीं। इंद्रियों और अन्तःकरण सो नहीं रहे हैं, अपने कारण अविद्या में लीन हुए-हुए नहीं हैं, इसीलिये सुषुप्ति भी नहीं। अतः परमात्मा का अनुभव जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों के द्वारा नहीं कहा जा सकता। इन तीनों से भिन्न वह तुरीय अवस्था है। इसलिये कह दिया वह केवल अद्रेश्य ही नहीं "अग्राह्यम्" भी है। वह कर्मेन्द्रियों का विषय भी नहीं।

'अगोत्रम् अवर्णम्' वह किसी से उत्पन्न तो हुआ नहीं है। क्योंकि सब को उत्पन्न करने वाला वह है इसलिये वह स्वयं किससे उत्पन्न होवे ? इसलिये कहा जाता है कि जब भगवान् शंकर और पार्वती का विवाह होने लगा तो, विवाह के अन्दर गोत्राचार होता है। गोत्र बताना पड़ता है। पुरोहित ने भगवान् शंकर से कहा कि अपने पिता का नाम लो। उन्होंने कहा 'मैं किसका नाम अपने पिता के रुप से लूँ?' फिर कहने लगे 'ब्रह्मा जी प्रसिद्ध हैं कि लोकपिता हैं।

अतः ब्रह्मा जी को ही पिता समझ लो। सब दुनियाँ के पिता हैं तो मेरे भी पिता हैं।' पुरोहित ने झट से गोत्राचार में पिता का नाम ब्रह्मा कहा। अब कहा 'दादा का नाम बताओ।' भगवान् शंकर सोचने लगे दादा का नाम क्या बतावें तो कहा 'ब्रह्मा विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न हुए तो विष्णु ही दादा समझ लो।' अब उन्होंने कहा 'परदादा का नाम लो।'

क्योंकि गोत्राचार में तीन पीढ़ियों का नाम लेते हैं। अब उन्होंने कहा 'ब्रह्मा और विष्णु को तो बता दिया अब किसको बताऊँ।' बोले 'वह तो सब दुनियाँ के हम ही हैं।' तो परमात्मा चूँकि सब का उत्पन्न करनेवाला है इसलिये उसका कौन सा गोत्र बतलाया जाये? 'अगोत्रम्'। इसी प्रकार से 'अवर्णम्' उसका किसी भी प्रकार से वर्णन नहीं किया जा सकता। न यह कह सकते हो कि परमात्मा ब्राह्मण है, न यह कि क्षत्रिय है, वैश्य है, शूद्र है, कुछ नहीं कह सकते। न द्रव्यत्वादि धर्म से उसका वर्णन हो सकता है, न स्थूलत्वादि धर्म से उसका वर्णन हो सकता है, न शुक्लत्वादि गुण से उसका वर्णन हो सकता है। सारे ही वर्ण उसमें अविद्यमान हैं। इसलिये वह अवर्ण है।

नारद जी जब पार्वती के पास गये तो पार्वती को पहले पहल नारद ने यही कहा 'अरे तुम चाहती हो मैं शंकर से विवाह करूँ। शंकर से विवाह क्या करोगी? न उसके गोत्र का पता, न वर्ण का पता।' लोक में कहीं विवाह करने जाओ तो देखते हो इसका गोत्र क्या है, वर्ण क्या है, कुल क्या है। यही देख कर विवाह करते हो। परमेश्वर के न गोत्र का पता, न वर्ण का पता, न कुल का पता। लोक में भी कहते हैं अरे वह तो देखने लायक भी नहीं है। उससे क्या ब्याह करोगे। परमेश्वर अद्रेश्य है, देखने लायक भी नहीं है। किसी भी इंद्रिय से उसको विषय नहीं कर सकते। तो उससे क्या विवाह करोगी। इतना ही नहीं, 'अचक्षुःश्रोत्रम्' उसके स्वयं भी न आँख है न कान है। अगर इनमें से एक भी न हो तो लड़की जल्दी ब्याह करना नहीं चाहेगी। अब यहाँ तो दोनों ही नहीं है। नामरूप को विषय करने वाली जितनी इंद्रियाँ हैं उन सब का सर्वथा अभाव है। "अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्" केवल आँख, कान नहीं इतना ही नहीं, हाथ-पैर भी नहीं हैं। ये सब लोक में प्रसिद्ध विषय हैं, जिनको बड़ा अच्छा समझा जाता है, जरूरी समझा जाता है। यह सब उसमें है ही नहीं। इसीलिये बार-बार शास्त्रों ने कहा कि जिसको वैराग्य नहीं होगा वह परमात्मा के विषय में प्रवृत्त हो नहीं

सकता। क्योंकि इन्हीं सब चीजों को तो लोक में प्रधानता दी जाती है। इन सब के अभाव वाले परमात्मा को विषय करने तो वैराग्य वाला ही जा सकता है।

पार्वती ने तुरन्त जबाब दिया 'मैं भी जानती हूँ, ये सब नहीं है इसीलिये तो वह आत्यन्तिक प्रीति का विषय है। अगर ये सब होकर वह प्रीति का विषय होता तो इन कारणों से होता। तब वह आत्यन्तिक प्रीति का विषय नहीं होता। ये चीजें उसमें हैं इसलिये प्रीति का विषय होता। इन सबके सर्वथा अभाव होते हुए भी वह प्रीति का विषय है इसीलिये आत्यन्तिक प्रीति का विषय है।' कभी वृन्दावन में जाओ बिहारी जी के दर्शन के लिये। रास्ते में लोग मिलते हैं, पूछो 'जी बिहारी जी के दर्शन हो रहे हैं?' कहते हैं 'हाँ हो रहे हैं। आज तो बड़ा सुन्दर है, जाओ भाई देखो। आज तो वह जड़ाऊ हीरों का मुकट चढ़ा हुआ है। जाकर देखो, बड़े सुन्दर दर्शन हैं।' साल भर तक रोज जाकर देख लो, कोई भक्त यह नहीं कहेगा 'आज भगवान् के वस्त्र इत्यादि कोई अच्छे नहीं हैं। भगवान् का रूप बड़ा सुन्दर है।' यह कहने वाला भक्त नहीं मिलेगा। उनको भगवान् अच्छे लग रहे हैं सुवापंखी कपड़ों के कारण, उनको भगवान् अच्छे लग रहे हैं हीरों के मुकुट के कारण। जो यह चाहता है कि ये सब हट जायें तो केवल भगवान् के दर्शन होवे वही केवल उनके दर्शन का इच्छुक कहा जा सकता है।

इसीलिये भगवान् शंकर के बड़े से बड़े मंदिर में चले जाओ, दक्षिण में। अन्दर निजविग्रह के अन्दर सिवाय लिंग के और कुछ नहीं। बाहर चाहे जितनी कारीगरी की गई हो। अन्दर मंदिर में नहीं। यही बतलाने के लिये परमात्मा अद्रेश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, सारी उपाधियों से रहित है। ये उपाधियाँ केवल उसके बाहर हैं, उसके अपने अन्दर नहीं। इस प्रकार से वह क्या नहीं है यह बतलाया।

अब तुरन्त प्राप्त हो गया कि यह सब कुछ नहीं है तो शायद वह कुछ है ही नहीं। इन्हीं सब गुणों वाली चीजों को तो हमने जाना है और जब ये सब कुछ नहीं है तो वहाँ कोई परमात्मा है यह भी कैसे मानें। संसार बड़ा विचित्र है। यदि औपाधिक रूप सामने आता है तो शंका होती है कि यह उपाधि ही तो सब कुछ नहीं है? निरुपाधिक सामने आता है तो शंका होती है कि उपाधिरहित है तो शायद कुछ है भी कि नहीं ? यदि परमेश्वर तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष हो जाय जैसे राम, कृष्णादि रूप में जैसे प्रत्यक्ष हो गये थे तो भी लाभ होगा

ही यह निश्चित नहीं। कई बार लोग कहतें हैं 'महाराज ईश्वर को देख लेवें एक बार तो फिर मन जम जाये, नहीं तो ईश्वर है कि नहीं यह संदेह रहता है।' वे यदि दीखेंगे भी तो किसी उपाधि में ही। हाथ पैर की उपाधि लेकर, रामकृष्णादि का रूप लेकर आयेंगे। उनको देखोगे तो शंका होती है कि ये साढ़े तीन हाथ के शरीर में दीख रहे हैं, ये सर्वव्यापक परमात्मा कैसे हो सकते हैं? ये रात में चलते हैं तो टार्च जलाकर चलते हैं, ये सर्वज्ञ परमात्मा कैसे हो सकते हैं? इनको तो बिना टार्च के पता लग जाना चाहिये कहाँ गड्ढा है कहाँ काँटा।

यदि परमात्मा उपाधि वाले हो करके तुम्हारे सामने आयेंगे तो तुम्हारी शंका यह रहेगी कि उपाधि ही तो दिख रही है। इसके पीछे और कुछ क्या है। और यदि परमेश्वर उपाधि को धारण कर सामने नहीं दीखते तो शंका होती है दीख जाता तो मानते। दीखता ही नहीं है। कैसे मानें? इसीलिये जैसे निरुपाधिक रूप का वर्णन करते हैं कि वह अद्रेश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है, अवर्ण है, वैसे ही तुरन्त शंका हो जाती है कि क्या वहाँ कुछ है भी कि नहीं।

श्रुति अत्यन्त दया करने वाली है। कहती है "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" वह स्वरूप से नित्य है। स्वरूप से नित्य का मतलब क्या? किसी भी शब्द के अर्थ का जब हम ग्रहण करते हैं तो किसी न किसी विशेष स्थल में ग्रहण करते हैं। इसलिये सर्वज्ञात्म महामुनि कहते हैं कि आकाशादि पदार्थ भी हमको नित्य लगते हैं क्योंकि वे सापेक्ष नित्य हैं, महाप्रलय तक बने रहते हैं। बाकी सब चीजें जो अनित्य हैं उनकी अपेक्षा आकाश, काल इत्यादि पदार्थ नित्य हैं। क्योंकि बाकी सब चीजें तो प्रलय के पहले ही खत्म हो जाती हैं परन्तु आकाश है, काल है, ये तो प्रलयपर्यन्त स्थायी हैं।

तो प्रलयपर्यन्त रहना यह एक प्रकार की नित्यता हुई। 'आकाशादौ नित्यता तावदे एका' और 'प्रत्यङ्मात्रे नित्यता काचिदन्या।' केवल शुद्ध परमात्मतत्त्व के अन्दर, प्रत्यगात्मा के अन्दर जो नित्यता है वह निरपेक्ष नित्यता है। महाप्रलय के अन्दर भी प्रत्यङ्मात्र, चिन्मात्र जो परमात्मा है वह वैसा ही बना रहता है। सदा एक भाव से बना रहना यह नित्यता चिन्मात्र की है, प्रत्यङ्मात्र की है, परमात्मा की है। तब लोक के अन्दर 'तत्सम्पर्काद् नित्यता काचिदन्या', संसार के अन्दर, लौकिक व्यवहार के अन्दर जब हम नित्यता कहते हैं तो इस चेतन और आकाश, दोनों के सम्पर्क से नित्यता कहते हैं। मैं जिस नित्यता को जानता हूँ उसी नित्यता का ग्रहण

होगा। इसीलिए कहा 'व्युत्पन्नोऽयं नित्यशब्दस्तु तत्र' इन दोनों को मिलाकर ही नित्य शब्द का अर्थ हम ग्रहण करते हैं।

इसीलिये हम परमात्मा को भी नित्य कहते हैं, आकाश को भी नित्य कहते हैं। दोनों को एक कर तत्सम्पर्क से। आकाशादि की नित्यता प्रलय पर्यन्त स्थायी है इसलिये उसको हटा दो, उसके सम्पर्क को हटा देने पर जो काल से असम्बन्ध होने वाली, काल से किसी प्रकार के सम्बन्ध वाली न होने की नित्यता है वह प्रकट हो जायेगी। जिस चीज को 'नहीं थी' ऐसा नहीं कहा जा सकता, 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, 'नहीं होगी' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता वह नित्य है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों के सम्बन्धों से रहित है, तीनों कालों में रहने वाली नहीं। चूँकि भूत के सम्बन्ध से रहित है इसलिये उसको 'था' ऐसा नहीं कह सकते, भविष्य के सम्बन्ध से रहित होने से 'होगा' ऐसा भी नहीं कह सकते, वर्तमान के सम्बन्ध से रहित होने से 'है' ऐसा भी नहीं कह सकते। कल्पित दृष्टि से कहीं उसको 'आसीत्' अर्थात् 'था' कह देते हैं। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।" भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि 'आसीत्' का मतलब यहाँ भूतकाल से सम्बन्ध नहीं है। काल यह मनुष्य की कल्पनामात्र है। भूत, भविष्य, वर्तमान नाम की चीज कहीं कुछ नहीं है। जिसको तुम एक दृष्टि से भूत कहते हो वही एक दृष्टि से भविष्य है।

आज का मतलब २८ नवम्बर। यही न आज का मतलब है। २७ नवम्बर की अपेक्षा २८ नवम्बर क्या है? भविष्य है। २९ नवम्बर की अपेक्षा २८ नवम्बर क्या है? भूत है। और २८ नवम्बर की अपेक्षा २८ नवम्बर क्या है? वर्तमान है। तो २८ नवम्बर किसी दृष्टि से भूत है, किसी दृष्टि से भविष्य है और किसी दृष्टि से वर्तमान है। २८ नवम्बर के पहले २७ नवम्बर आता है, यह बात तो ठीक है लेकिन २७ नवम्बर हमेशा के लिए भूत हो गया, ऐसा तो नहीं न। काल यह केवल एक काल्पनिक सम्बन्ध है। भूत, भविष्य, वर्तमान ये एक कल्पना मात्र हैं। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं—

"सर्वे विकल्पा प्रागासन् बीजेऽङ्कुर इवात्मनि।"

जितने भी विकल्प हैं, संसार के अन्दर जो कुछ भी देखने में आ रहा है वह सब पहले कैसा था? जैसे बीज के अन्दर वृक्ष की सब चीजें पहले से विद्यमान हैं

वैसे आत्मा में था।

"फलपुष्पलतापत्रशाखाविटपमूलवान्।

वृक्षबीजे यथा वृक्षः तथेदं ब्रह्मणि स्थितम्।"

बीज के अन्दर ही मूल अर्थात् जड़ भी है, बीज के अन्दर ही तना भी है, बीज के अन्दर ही उसकी शाखाएँ भी है, बीज के अन्दर ही उसके पत्ते भी हैं, टहनियाँ भी हैं, फूल भी हैं, फल भी हैं, सब बीज के अन्दर मौजूद है। जैसे वृक्ष के बीज में ये सब चीजें रहती हैं वैसे ही 'तथेदं ब्रह्मणि स्थितम्' वैसे ही यह सारा जगत् उस नित्य ब्रह्म के अन्दर स्थित है। ब्रह्म की नित्यता का रूप यह है। ऐसा नहीं कि वह भूतकाल से सम्बन्धित है या भविष्य काल से सम्बन्धित है या वर्तमान काल से सम्बन्धित है, या वह तीनों कालों की कल्पना से रहित है क्योंकि बीज के अन्दर यह सारी चीजें विद्यमान हैं। यह परमात्मा का स्वभाव है कि इन सब भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होना। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं—

"लहरीबुद्बुदादीनां सलिलान्न पृथक्स्थितिः।"

जैसे जल का स्वभाव है लहर रूप में दीखना, बुलबुले के रूप से दीखना, झाग के रूप से दीखना; जैसे यह सलिल का, जल का स्वभाव है उसी प्रकार से ब्रह्म का यह स्वभाव है कि इन सब रूपों के अन्दर प्रतीत होना।

कई बार शंका होती है ब्रह्म एक है तो एक ही रूप में दीखना चाहिये। तो अब जो कहते हैं वह कभी करके नहीं देखना, मन से देखना। मोर होता है मोर, जानते हो न, मयूर। मोर एक पक्षी है तो उसका अंडा होता है। यदि मोर के अंडे को फोड़ कर देखो तो वहाँ एक रस ही तो दीखेगा न। सब अंडो के अन्दर एक ही रस होता है थोड़ा सफेद थोड़ा पीला। यद्यपि मयूर के अंडे के अन्दर एकरस पदार्थ है, परन्तु उस अंडे से जब मोर पैदा होता है तो उसके जो पंख होते हैं वे भी उसी एकरस पदार्थ में से आये हैं। दुनिया भर के सारे के सारे रंग उसमें दीखते हैं कि नहीं दीखते हैं? अब कोई कहे, सफेद कबूतर के अंडे से तो ऐसा नहीं होता, तो यही कह सकते हो कि मोर के अंडे की एकरसता का यह स्वभाव है कि अनेक वर्णों वाला दीखे। सफेद कबूतर के अंडे का यह स्वभाव है कि उससे उत्पन्न होने वाला कबूतर एक रंग का दीखे। परब्रह्म परमात्मा अनेक वर्णों वाले संसार के अनेक रूपों को धारण कर लेता है। क्यों

धारण करता है ?

"अनादौ संसारे विदधति रजोबाधितधिया

शुभं वा घोरं वा शबलमथवा कृत्यमणवः ।"

अपने अज्ञान के कारण, राग के कारण जीव की जो बुद्धि है उसका निश्चय बाधित होता है । राग के कारण जीव ठीक निश्चय नहीं करता है । ठीक निश्चय करे तो इसी समय उसको पता लग जाये कि मैं तो एक अखंड चिन्मात्र से अतिरिक्त और कुछ नहीं । परन्तु जो राग है वह इस निश्चय को करने नहीं देता । वह कहता है यदि 'मैं ऐसा करूँगा तो मेरे राग के विषय का क्या होगा ?' जब समझाते हैं तो समझ में आता है 'मैं शरीर नहीं, मैं शरीर को जानने वाला चिन्मात्र हूँ', समझ में तो आता है । 'मैं शरीर को जान रहा हूँ' यह समझ में आता है, परन्तु अगला प्रश्न क्या है ? 'यदि मैं इस शरीर को नहीं सँभालूँगा तो यह कैसे सँभ-लेगा ?' अर्थात् शरीर सँभला हुआ होना चाहिये । इसी का नाम राग है । मन जिस परिणाम को प्राप्त करता है उसको मैं जानता हूँ ।

मन दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ । बात तो समझ में तुरन्त आ जाती है परन्तु प्रश्न क्या है ? 'यदि इस मन को मैं नहीं सँभालूँगा तो कैसे सँभलेगा ?', मन सँभला हुआ होना चाहिये । अब मन को सँभालो, शरीर को सँभालो, घर को सँभालो, पत्नी को सँभालो, पुत्रों को सँभालो, पोतों को सँभालो, पड़पोते को सँभालो तो सँभालते ही रहोगे, खुद कहाँ से सँभलोगे ! इसलिए 'रजोबाधितधियः' राग के द्वारा बाधित-बुद्धि होने से "शुभं वा घोरं वा शबलमथवा कृत्यमणवः" कभी शुभ कर्म कर लेता है— वह भी राग के कारण ही करता है, 'घोरं वा,' घोर कर्म कर लेता है, वह भी राग के कारण ही करता है,' अथवा 'शबलम्' दोनों मिले हुए कर लेता है, वह भी राग के कारण ही कर लेता है ।

गण्डकी नदी के किनारे भारद्वाज गोत्र के एक ब्राह्मण थे । उनका नाम था शंकर । बड़ी निष्ठा वाले ब्राह्मण थे । गाँव के बाहर एक भगवान् शिव का मंदिर था । प्रतिदिन वहाँ जाकर नियम से पूजन करते, जप करते, ध्यान करते फिर आकर गाँव की पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाते । शाम को फिर उस मंदिर में जाकर प्रदोष काल में भगवान् शंकर का पूजन करते । सात बजे से नौ बजे का समय प्रदोष काल का कहा जाता है । दोष कहते हैं रात को । रात का प्रथम

प्रहर होने से सात बजे से नौ बजे प्रदोष काल होता है। भगवान् शंकर को यह काल अत्यन्त प्रिय है। प्रदोष के दिन वे नृत्य करते हैं। अतः उस दिन वह काल और अधिक महत्त्व का है। परन्तु प्रतिदिन ही जो सन्ध्या के बाद का काल है वह शिवपूजन के लिये उत्तम काल है। दिनभर विद्यालय में पढ़ाया फिर गये सायंकाल की संध्या की, आरती की, भगवान् शंकर का पूजन किया। रात में फिर साढ़े नौ-दस बजे घर आते थे।

छोटा गाँव था। वहाँ व्यवस्था पुराने ढंग से चलाने वाले ठाकुर जगपाल थे। उन्हीं ने अपनी तरफ से विद्यालय चालू किया था। दस विद्यार्थी थे। उनके भोजन इत्यादि की सारी व्यवस्था थी। भारतीय परम्परा के अनुसार धन का विद्या से सम्बन्ध नहीं। यूरोप की संस्कृति से प्रभावित होने के कारण हमारे विद्यालयों में पहले पाँच रुपये फीस शुरु हुई। फिर पचास रुपये की फीस हुई, फिर सौ रुपये की फीस हुई। अब महंगाई का जमाना बहुत लम्बा चौड़ा हो गया। कल ही कोई हमको सुना रहा था कि अमुक विद्यालय में हमको अपना बच्चा भर्ती करना है तो वहाँ के प्रिंसिपल ने कहा कि एक सवा लाख का कम्प्यूटर दे दो तो तुम्हारे बच्चे को भर्ती कर लेंगे। तो पाँच रुपये से बढ़कर सवा लाख तक पहुँच गया। हमारे यहाँ ठीक इससे विपरीत है। विद्या का दान किया जाता है, विद्या को बेचना हमारे यहाँ अपराध मानते हैं। बुरी चीज माने हैं विद्या को बेचना। अभी भी जितने संस्कृत विद्यालय देखोगे प्राचीन ढंग के, वहाँ पर विद्यार्थी रखे जायेंगे, उनको भोजन, वस्त्र अन्य व्यय इत्यादि दिया जायेगा उनके जीवन का निर्वाह करने के लिये, और विद्या पढ़ाई जायेगी। यह संस्कृतियों के दृष्टिकोण का भेद है। इसलिये हम कई बार कह देते हैं आजकल के विद्यालय विद्यालय नहीं है, दुकानें हैं। दुकान में सौदा बेचा जाता है। वहाँ विद्या बेची जाती है। जिसके पास पैसा है वह खरीद लेवे। इसलिये उस विद्या को पढ़ कर भी लोग धन कमाने की ही सोचते हैं। विद्या पढ़ेंगे तो विद्या के लिए नहीं, धन के लिए। इससे धन की प्राप्ति होगी यह सोचकर ही पढ़ाई करते हैं। ऐसा वहाँ नहीं था, संस्कृत विद्यालय था।

ठाकुर जगपाल भी भगवान् शंकर के भक्त थे। उपासना करते थे। एक बार एक जगह नींव खोद रहे थे तो उनको पन्द्रह लाख रुपये का सोना वहाँ मिल गया। उन्होंने विचार किया 'यह मेरी कमाई तो है नहीं। भगवान् ने ही दिया

है इसलिए भगवान् के निमित्त इसको लगाऊँ ।' गृहस्थी भी थे, तो विचार किया दस लाख रुपया लगा कर तो एक भगवान् शंकर का मंदिर विशाल बनवा दूँगा । पाँच लाख रुपये अपने जो चार बच्चे हैं उनको दे दूँगा ।' इस विचार को कार्य में परिणत करें इसके पहले वे मर गये परन्तु पत्नी को बच्चों को सभी को उन्होंने यह बतला दिया था कि मेरा ऐसा विचार है । इसी को कहते हैं शुभ कर्म में प्रवृत्ति । जब वे मरने लगे उस समय उन्होंने शंकर पंडित के सामने ही बच्चों को कहा 'भाई देखो, मैंने जो इच्छा की है तदनुसार ही तुम लोग व्यवहार करना ।'

वे मर गये । उनका जो बड़ा लड़का था उसका नाम था कुशलपाल । वह भोगी था । अब पिताजी मर गये तो बड़ा होने के कारण उसको छूट मिल गई । भोग में प्रवृत्ति हो जाने पर धन समाप्त होने में देरी थोड़ी लगती है । धन कमाने में देरी लगती है ही, खर्च करने में देरी नहीं लगती । थोड़े समय में घर का धन उसने खत्म कर दिया । अब उसकी दृष्टि बनी कि 'यह जो सोना है उसका मैं प्रयोग कर लूँ' । तो उसने अपने भाइयों को बुलाया और कहा 'देखो मेरे पास पिता जी का लिखा हुआ इच्छापत्र है विल है, वसीयत है । इसके अन्दर इन्होंने आधा सोना मुझे लेने को कहा है और आधा सोना बाकी तुम तीन को बाँटने को कहा है ।' भाइयों ने इच्छापत्र देखा । उन्होंने कहा 'जी पिताजी ने तो ऐसी बात कभी कही नहीं थी, उल्टा वे तो मंदिर बनाना चाहते थे ।' कुशलपाल कहने लगा 'मरते समय उन्होंने अपना विचार बदल दिया था । उन्होंने यह इच्छापत्र लिखा था इस बात को शंकर पंडित जी जानते हैं ।' उन लोगों की सबकी पंडित जी पर श्रद्धा थी कि वे भगवान् के भक्त हैं । कहा अगर वे कहेंगे तो हम लोग मान लेंगे । अगर उनके सामने दस्तखत किया है तो मान लेंगे ।' कुशलपाल ने कह तो दिया, लेकिन सोचने लगा पंडित जी को जा कर पहले पक्का कर लेना चाहिए । क्योंकि बात तो झूठी ही है । यह पंडित है तो जिद्दी हठी परन्तु आज के जमाने में पैसे से क्या नहीं हो सकता । मैं उसको दो तीन लाख का सोना दे दूँगा बस ।' गया पंडित जी के पास जाकर कहा 'देखिये यह इच्छापत्र पिता जी का है ।' उन्होंने देखकर कहा 'कुशलपाल ! ये अक्षर तुम्हारे पिताजी के जैसे तो हैं लेकिन पिताजी के ये अक्षर हैं नहीं । तुम्हारे बनाये हुए हैं ।' कहने लगा पंडित जी इस चक्कर में क्यों पड़ते हो ? आपको मैं खूब दान दे दूँगा ।' मैं

कृतघ्न नहीं हूँ, बड़ा कृतज्ञ रहूँगा। आपको खूब दे दूँगा, आप हां कर देना।' पंडित जी ने कहा 'देखो भाई मैं झूठ नहीं बोल सकता।' कहने लगा 'मैं आपको एक तिहाई दे दूँगा। मेरा जो हिस्सा बनेगा उसका एक तिहाई आपको दे दूँगा, आप ले कर खूब भक्ति करना। भगवान् के कार्य में लगाना।' जितने चोरी करने वाले हैं वे यही तो करते हैं। हाजी मस्तान ने दुनिया भर से चोरी कर कमाया, अब कहता है बाबरी मस्जिद की रक्षा के लिए खर्च कर दूँगा। सभी जगह यही प्रवृत्ति होती है। चोरी कर कमाऊँगा धर्म में खर्च दूँगा। कहने लगा 'पंडित जी आप लीजिएगा, खूब भजन कीजियेगा, भगवान् की सेवा में लगाइयेगा। आपका परलोक भी सुधर जायेगा और इहलोक भी सुधर जायेगा।' पंडित जी ने कहा 'यहा सब उपदेश मेरे को देना छोड़। सत्य ही परमात्मा की सबसे बड़ी उपासना है।

"सत्येन लभ्यः तपसा ह्येषा आत्मा।"

वेद कहता है— यही मुण्डक उपनिषद् आगे जाकर कहेगी— कि वह परमात्मा सत्यरूपी उपासना से मिलता है। झूठा व्यवहार करके चाहो परमात्मा को प्रसन्न कर लूँगा, तो परमात्मा कभी प्रसन्न होने वाला नहीं। इसलिए भगवान् तुमको सद्बुद्धि देवें, तुम सन्मार्ग पर चलो।' अब यह तो भोगी था न, इसको गुस्सा आ गया। भोगी व्यक्ति को ऐसी सच्ची बात पसन्द नहीं आती। उसने कहा 'रहने दो तुम्हारा आशीर्वाद मुझको नहीं चाहिए। सद्बुद्धि हो, सद्बुद्धि दो ! मैं तुमको ठीक करके रख दूँगा, संभल कर रहना।' पंडित जी हँस पड़े। 'संसार में रक्षा करने वाला सिवाय परमेश्वर के और कोई नहीं है। तू मेरे को क्या धमकी दे रहा है।' कुशलपाल गुस्सा होकर लौटा। उसने सोचा 'अब दो एक दिन में मेरी सारी पोल खुल जायेगी। इसलिये मार देवें बुड्ढे को तो काम बन जाये।' वे तो रात में जाते ही थे। साढ़े नौ-दस बजे रात में शिव मंदिर से घर आते हुए इनको रास्ते में जंगल पड़ता था। यह वहाँ छुरा लेकर पहुँच गया। ये आनन्द से पूजा करके वापस आ रहे थे। उसने इसकी छाती में छुरा घुसा दिया। खून की धारा बह गई। पंडित जी गिर गये। ठाकुर वहाँ से भागा। मन में डर रहता है पापी को यह 'घोरं वा' घोर कर्म है ब्राह्मण की विना कारण हत्या। जब वह वहाँ से भागा तो अंधेरे का समय था ही, सामने एक चट्टान थी, उससे बड़े जोर की ठोकर लगी और गिर पड़ा। अब संस्कार तो पिता के थे ही। गिरा तो बेहोशी में देखने

लगा कि बड़े भयंकर शिव गण उसको बड़े जोर से घूँसा मार रहे हैं। क्योंकि जैसे संस्कार होते हैं तदनुकूल की प्रतीति होने लगती है। पिता से प्राप्त संस्कार तो थे ही कि पाप का फल अवश्य मिलता है।

इधर थोड़ी देर में पंडित जी को होश आया। पंडित जी वहाँ से उठे और चले तो यह रास्ते में गिरा हुआ था। तो इसको देखकर दया आ गई। यह है भक्त का व्यवहार। अपना बड़े से बड़ा नुकसान करने वाले के प्रति भी उसका प्रेम कभी सूखता नहीं। पंडित जी ने कहा 'अरे यह तो बेचारा गिर पड़ा !' उस चोट लगी हुई स्थिति में ही वे कुएँ से पानी लेकर आये, उसके मुख पर छिड़का, उसको पानी पिलाया। उसको थोड़ा होश आया। पंडित जी को देख कर उसके मन में बड़ा दुख हुआ कि मैंने इनके साथ ऐसा किया। रोने लगा कि 'मेरे से बड़ी गलती हुई।' पंडित जी ने कहा 'कोई बात नहीं, अब भी तू रास्ते पर आ जा।' कहने लगा 'अब मैं गलती बिल्कुल नहीं करूँगा।' उसको पंडित जी ने घर पहुँचाया।

वहाँ पर उसके जो दूसरे भाई थे उन्होंने पंडित जी की मल्हम पट्टी की। वहीं पर कुशलपाल ने सारी बात कह दी कि मैंने ऐसा-ऐसा गलत काम किया परन्तु अब ऐसा नहीं करूंगा। उसके बाद जैसा उसके पिता की इच्छा थी तद-नुकूल ही उसने भगवान् शंकर के मंदिर का भी निर्माण करा दिया और भाईयों में बराबर-बराबर सब धन बाँट दिया। जीवों के अज्ञान के कारण, रागद्वेष के कारण, कभी शुभ कर्म करते हैं, कभी घोर कर्म करते हैं कभी मिले हुए कर्म करते हैं।

"ततस्तदभोगार्थं तरुणकरुणापूर्णहृदयो
विधत्से यत्तेषं तनुभवननिर्माणमखिलं।"

इसलिए शास्त्रकार कहते हैं 'ततस्तद् भोगार्थम्' उन कर्मों के भोग के लिए परमेश्वर जो सृष्टि करते हैं वह तरुण करुणा से, हमेशा नवीन करुणा उनके हृदय में होती है। हर जीव के ऊपर नित्य निरन्तर करुणा है। 'यह इस कर्मफल को भोग कर शुद्ध हो जायें और परमात्मा की प्राप्ति कर अनन्त आनन्द को प्राप्त करें' यह भाव है। 'तनुभवननिर्माणमखिलम्' लोगों के शरीर का और शरीर से जहाँ कर्म करें उन भुवनों का— इन सब चीजों का निर्माण वे करते हैं। परमेश्वर इस अनन्त

रूप में अपने को प्रकट करता है। उसका केवल एकमात्र कारण यही है कि जो जीव इस बात को नहीं जानते वे इस चीज का ज्ञान प्राप्त करें।

परमात्मा की नित्यता काल में नहीं। परमात्मा जीवों के ऊपर करुणा करने के कारण अपना कल्पित सम्बन्ध काल के साथ बनाते हैं। इसलिए कहा आकाश आदि की नित्यता तो एक प्रकार की है, परन्तु जहाँ हम नित्यता का ग्रहण करते हैं, परमेश्वर की नित्यता का, वह तो तत्सम्पर्कात् जैसे आकाश भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में है उसी प्रकार हम समझते हैं परमात्मा तीनों काल में है। परन्तु जब वस्तुतः पता लगता है तब उसकी नित्यता 'प्रत्यङ्मात्रे नित्यता काचिदन्या' तीनों कालों से असम्बद्ध होने वाली जो नित्यता है उसका ज्ञान होता है। उसी नित्यता को यहाँ कहा है "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्"। अब उसकी विभुता इत्यादि क्या है, इस पर आगे कल विचार करेंगे।

नवम प्रवचन

(२९ नवम्बर-१९८८)

अथर्ववेद के मुण्डकोपनिषद् के आधार पर पराविद्या का विचार किया। पराविद्या क्या है ? यह दो प्रकार से बतलाया गया है— निषेधमुख से और विधिमुख से। निषेधमुख से बतलाया कि वह किसी ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय का विषय नहीं है। वह सबका आदि कारण होने से, उसका कोई कारण नहीं। वह स्वयं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के द्वारा कुछ जानता या करता नहीं। फिर उसी को विधिमुख से बतलाया कि वह नित्य है अर्थात् काल से उसका त्रैकालिक सम्बन्ध नहीं। वह व्यापक भी है और सबके अन्दर प्रविष्ट हुआ हुआ भी है। कई चीजें व्यापक होती हैं बड़ी होने से। परन्तु वे सबके अन्दर प्रविष्ट नहीं होती। परमात्मा की विशेषता यह है कि वह विभु भी है और सर्वगत भी है। और इसीलिये वह अतिसूक्ष्म है, सुसूक्ष्म है। क्योकिं जो सूक्ष्म होता है वह व्यापक भी होता है और अपने कार्य के अन्दर प्रविष्ट भी होता है। गुण इत्यादि सबसे रहित होने के कारण वह अव्यय है।

व्यय का मतलब होता है कम हो जाना। यदि किसी चीज के टुकड़े हो गये, अवयव हो गये तो उन टुकड़ों के कम हो जाने से कहा जाता है कि उस चीज का व्यय हो गया। जैसे आपके पास सौ रुपये हैं उसमें से आपने दस रुपये खर्च कर दिये तो नब्बे रुपये रह गये। तो कहा जायेगा कि व्यय हो गया। दस रुपये खर्च हो गये तो दस रुपये का व्यय हो गया, कम हो गये। परन्तु वह परम तत्त्व किन्हीं भी टुकड़ों से बना हुआ नहीं है। वह पूर्ण है। अतः उसके टुकड़े कम होने की प्राप्ति ही नहीं। अथवा किसी के पास कोई गुण विशेष होवे और वह गुण कम हो जाये, तो व्यय कह जा सकता है। जैसे आपने कपड़ा खरीदा तो तेज लाल था, फिर उसको धोया, धूप में डाला तो धीरे-धीरे उसका रंग फीका हो जाता है। अर्थात गुण कम हो गया। तो गुण के कम होने से भी व्यय कहा जाता है। परन्तु जैसा कल विचार किया था, उसके अन्दर कोई गुण नहीं। अतः गुणनिमित्तक व्यय भी उसमें संभव नहीं। इस प्रकार वह न गुण से और न टुकड़ों से ही व्यय हो सकता है।

अतः उसको अव्यय कहते हैं। वही 'भूतयोनिम्' सारे भूतों का एकमात्र कारण है। परन्तु उस कारण का साक्षात्कार कौन करते हैं। तो कहा "यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"। जो धीर लोग हैं अर्थात् धीमान् लोग है, विवेक वाले है, वे ही उसका दर्शन कर सकते हैं। जिनके अन्दर विवेक की संभावना है, वे धीर हैं। जिस प्रकार से भिन्न-भिन्न गहनों को देखकर विवेकी तो उनके अन्दर रहने वाले सोने को और आकार को अलग-अलग कर जान लेता है, परन्तु छोटा बच्चा इस विवेक को करने में समर्थ नहीं। अतः उसको गहना एक पदार्थ लगता है। वह सोना और उसका आकार— इन दोनों को अलग-अलग कर समझ नहीं सकता। जैसे आप कमीज और बनियान को अलग-अलग कर सकते है, कमीज और बनियान इकट्ठी होवे उसको आप अलग-अलग कर सकते हैं। वैसे तो बच्चा भी देख सकता है कि यह अलग है और यह अलग है। पर आप सोने को और सोने का आकार को अलग करके नहीं दिखा सकते। जब सोने को दिखायेंगें तो किसी न किसी आकार में ही दीखेगा। अतः सोने और आकार को आप उस प्रकार अलग नहीं कर सकते जैसे कमीज और बनियान को अलग कर सकते है। विवेक से, बुद्धि से ही समझा जा सकता है कि इसके अन्दर सोना है और सोने में यह रूप है।

इसी प्रकार से जब भी परमात्मा को देखेगें, जब भी उसका अनुभव करेगें तो किसी न किसी विशेष रूप में ही अनुभव करेंगे। परन्तु विशेष रूप में अनुभव करते हुए जो बुद्धिमान होता है, विवेकी होता है, वह उसको अलग-अलग जान लेता है। ऐसे समझिये— जाग्रत अवस्था में भी हम चेतन का अनुभव करते हैं। चेतन ही तो जाग्रत अवस्था का अनुभव करता है। चेतन जाग्रत रूप में मिलता है, वही स्वप्न के रूप में भी मिलता है। जैसे जाग्रत को जाना जाता है, जाग्रत के अन्दर चेतन का अनुभव है, वैसा ही स्वप्न में भी चेतन का अनुभव है, परन्तु साधारण व्यक्ति, अविवेकी व्यक्ति जाग्रत को जाग्रत समझता है, स्वप्न को स्वप्न समझता है। कोई एक ही चीज है जो जाग्रत रूप वाली भी है और स्वप्न रूप वाली भी है, ऐसा नहीं समझता। इसी प्रकार से जैसे जाग्रत् और स्वप्न चेतन है वैसे ही सुषुप्ति चेतन है परन्तु मनुष्य सुषुप्ति को जाग्रत और स्वप्न दोनों से अलग कोई भिन्न चीज समझता है। अतः साधारण व्यक्ति अपनी जाग्रत अवस्था को एक समझता है, स्वप्न अवस्था को दूसरी

समझता है, सुषुप्ति अवस्था को तीसरी समझता है। इस तीन अवस्थाओं से भिन्न कर चेतन को नहीं जानता। चेतन के तीन रूप तो समझ लेता है। चेतन जाग्रत रूप में है, चेतन स्वप्न रूप में है, चेतन सुषुप्ति रूप में है, परन्तु जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों रूप लेने वाला जो चेतन सर्वथा तीनों रूपों से भिन्न है, उसे नहीं समझता। जैसे सोने का कड़ा है यह भी दीखता है, सोने का बाजूबन्द है यह भी दीखता है, सोने की करधनी है, यह भी दीखती है। सोने के इन तीनों रूपों से भिन्न सोना है उसको समझ लेता है परन्तु जो विवेकी नहीं है वह केवल इन तीन चीजों को पहचानेगा। तीनों को अलग-अलग समझता रहेगा। इसी प्रकार से संसार के सब पदार्थों के सब रूपों को धारण करने वाला वह परमात्मतत्त्व इन सब रूपों में प्रकाशित हो रहा है। जब भी प्रकाशित होगा तो किसी रूप में होगा परन्तु इन रूपों को देख कर ही उसका जो निरूप स्वरूप है, रूपरहित ज्ञान हैं, वह हो जाता है देखते तो रूपवाले को हैं लेकिन उससे जो ज्ञान होता है वह रूप वाला नहीं। सोने को किसी न किसी आकार में देखते हैं पर जिस सोने को समझते हैं वह किसी आकार वाला नहीं है। अब यह चूँकि केवल विवेक से किया जा सकता है इसलिये कहा— "यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।"

जो धीर पुरुष नहीं है, विवेकी नहीं है उनकी हमेशा यही शंका रहती है कि जब दीखता है तो आकार से दीखता है तो आकार वाला ही होगा। वह इन सब रूपों में कैसे बनता है। भूतयोनि अक्षर को बतलाया। अब यह भूतयोनि अक्षर किस प्रकार से अनेक रूपों को धारण करता है इसको दृष्टान्तों के द्वारा श्रुति बतलाती है—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।

यथा सतः पुरुषात्केशलोमाणि तथाक्षरात्मं भवतीह विश्वम्।"

जिस प्रकार से ऊर्णनाभि, लूता कीट, मकड़ी अपने शरीर से ही, अपने से अभिन्न जो शरीर है उस शरीर से ही, सारे जाले को, तन्तुओं को बाहर निकालती है। मकड़ी जिस जाले को बनाती है उस जाले के लिये जो धागा दीख रहा है वह उसके शरीर के अतिरिक्त और कहीं से नहीं आता। अपने शरीर से ही निकालती है और फिर जब काम हो जाता है तब फिर उस धागे को अपने

अन्दर लीन कर लेती है। उस जाले को बनाने वाली कौन? मकड़ी। और उस जाले के रूप में बनने वाली कौन? मकड़ी। शास्त्रीय भाषा में कहें तो मकड़ी ही उसका उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है। उपादान कारण अर्थात् बनने वाली और निमित्त कारण अर्थात् बनाने वाली। तो जाले के रूप में बनने वाली भी मकड़ी ही है और जाला बनाने वाली भी मकड़ी ही है। इसी प्रकार से वह अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म परमात्मतत्त्व स्वयं ही बनाता है सृष्टि के सारे रूपों को, और स्वयं ही इन रूपों से बन जाता है। दूसरा दृष्टान्त दिया—

"यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।"

जिस प्रकार से जमीन में से गेहूं चावल इत्यादि सब चीजें निकलती हैं। किसमें से निकली? तो मिट्टी में से निकली, पृथ्वी में से निकली। निकालने वाला कौन? पृथिवी ही है। उसके सिवाय और कोई कारण नहीं है। और वापस जब लीन होती है तो मिट्टी में ही चली जाती हैं।

तीसरा दृष्टान्त दिया — जैसे जीवित व्यक्ति के शरीर से बाल और रोएँ पैदा होते है। प्रायः कई बार लोगों को शंका होती है कि कारण के अनुसार ही कार्य उत्पन्न होता है। कारण के गुण कार्य में आते हैं। आप यदि परमात्मा को चेतन कहते है तो चेतन परमात्मा से जड जगत् कैसे उत्पन्न होगा। चेतन से चेतन की ही उत्पत्ति होनी चाहिये। इस शंका को दूर कर देता है यह वेदमंत्र। हमारा शरीर तो चेतन है और हमारे जो बाल, रोएँ पैदा हुए हैं वे जड हैं, इसलिये नाई के पास बाल कटवाने जाते हो। नाई तुमको कोई सुंघनी सुँघाता है क्या? अगर अन्यत्र शरीर में कहीं काटना पड़े तो कम से स्थानीय संवेदना का निरोध करने वाला लोकल एनेस्थीसिया तो लगा ही देते हैं, नहीं तो चिल्लाता है रोगी।

परन्तु चाहे चार साल की खेती सिर के ऊपर होवे उसको काटने के लिये कोई सुंघनी सुँघानी पड़ती है? कुछ नहीं। बड़ी प्रसन्नता से जाते हो और हँसते खेलते वापस आ जाते हो। नहीं न है उसमें चेतनता। जैसे चेतन से जड की उत्पत्ति यहाँ देख रहे हैं वैसे ही उस परब्रह्म परमात्मा से भी जड जगत् उत्पन्न हुआ। इन तीनों दृष्टान्तों को देकर कहा कि "तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्"। इसी प्रकार से बिना किसी अन्य साधन के अक्षर से विश्व उत्पन्न हो जाता है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं—"निमित्तान्तरानपेक्षाद् अक्षरात् संभवति।" उस परब्रह्म

परमात्मा को किसी अन्य सहायक कारण की जरूरत नहीं है कि यह सहायक कारण मिले तो मैं जगत् को उत्पन्न करूँ नहीं तो नहीं करूँ । किससे वह इस प्रकार से अपने को बढा लेता है ? इस पर अतिधन्य वेद कहता है ।

"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभि जायते
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसुचामृतम्" ।

ब्रह्म तप से बढ़ता है। पुराणों में भी आता है ब्रह्माजी ने तप किया। परन्तु यहाँ तप का मतलब क्या है? भगवान् भाष्यकार लिखते हैं "तपसा ज्ञानेन उत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयते।" यहाँ तप का मतलब कोई एक टाँग पर खड़े होकर तप करना नहीं है। "तपसा ज्ञानेन"। तप शब्द से कई अर्थ हैं। तप का एक अर्थ है ज्ञान। विचार बड़ा भारी तप है। रात में जागना हो तो बड़ी तपस्या है। एक दिन शिवरात्रि को जागना पड़ता है तो बड़ी कोशिश करते है नींद कैसे न आये। इधर से उधर टहलते हैं। रुद्री का पाठ होता रहे, हाथ से कुछ पूजन करते रहो तब तो कुछ सुविधा हो जाती है। और यह सब कुछ न कर रहे हो तो जागना और मुश्किल हो जाता है।

परन्तु वह जागना यदि तुम्हारे मन में कोई विचार का फितूर आ जावे तो सहज हो जाता है। तुम्हारा लड़का यहाँ से बड़ौदा हवाई जहाज से गया। रात को ११ बजे रेडियो की न्यूज बुलेटिन सुन ली। बड़ोदा जाने वाला जहाज गिर गया। बारह आदमी मारे गये। तुमको किसी ने नहीं बताया कि तुम्हारा लड़का मारा गया। बस अगर ११ बजे की वार्ता में तुमने इतना सुन लिया, खबरों में तुमने सुन लिया, तो रात भर नींद आती है? जागने के लिये इधर उधर घूमना पड़ता है क्या? कुछ करना नहीं पड़ता, परन्तु यह दिमाग है जो तुमको सर्वथा सोने नहीं देता। क्या हो रहा है? मन में विचार हो रहा है, क्या हुआ होगा, क्या नहीं हुआ होगा, कैसे पता लगावें, कहाँ टेलीफोन करें, बड़ोदा में अपना कोई परिचित है या नहीं? किसी भी चीज का जब विचार करते हो तो वह विचार एक तरह की आग लगा देता है। विचार की आग बड़ी भयंकर होती है। बड़ी-बड़ी संस्कृतियों को विचार की आग हिला देती है, जला देती है, नष्ट कर देती है। किसी चीज को तुम सैकड़ों साल से मानते

आये हो कभी किसी ने कोई शंका उत्पन्न ही नहीं की। अब किसी ने तुमको एक युक्ति बता दी कि जो तुम मानते रहे हो उसमें यह गलती है, यह बात ठीक नहीं बैठती। वह युक्ति सैकड़ों हजारों साल की मान्यताओं की जड़ों को हिला देगी। विचार की जो सामर्थ्य है वो सामर्थ्य और किसी में नहीं। विचार ही जगत् को उत्पन्न करने में समर्थ है। इसलिये कहा "तपसा चीयते ब्रह्म" तप से, विचार से ही यह सारा जगत् उत्पन्न होता है। और चूँकि विचार से उत्पन्न होता है इसलिये इसको विचार से ही समझा जाता है। यदि यह संसार अविचार से बना होता तो कभी इसकी संगति नहीं लग सकती थी। जितना-जितना संसार को देखते हैं, उतना-उतना इसके अन्दर कितना विचार भरा हुआ है यह देख कर आश्चर्य होता है।

एक मोटा दृष्टान्त है — पानी। और बाकी सब तरल पदार्थ हैं। तरल पदार्थों को, द्रवों को जब ठंडा करते हैं तो वह घने होते जाते हैं, भारी होते जाते है। जिस किसी द्रव पदार्थ को तुम ठंडा करते जाओगे, वह घनीभूत होता जायेगा, भारी होता जायेगा। केवल एक तरल पदार्थ ऐसा है जो ठंडा करने पर भारी होते-होते अकस्मात् हल्का होने लग जाता है और वह है पानी। सामान्यतया विचार करो तो इसकी कोई तुक नहीं समझ में आती कि सब नियमों को छोड़कर पानी ऐसा क्यों करता है। कभी ठंडे मुल्कों में चले जाओ तो पता लग जायेगा।

पानी धीरे-धीरे भारी होता जायेगा। भारी चीज हमेशा नीचे जाती है। चार डिग्री तक तो पानी भारी होता जायेगा और नीचे जाता जायेगा, चार डिग्री के बाद पानी तीन डिग्री पर पहुँचेगा तो हल्का हो जायेगा। इसीलिये शून्य डिग्री वाली जो बर्फ है वह तुम्हारे गिलास में ऊपर तैरती रहती है। बर्फ ठोस है, पानी तरल है। नियमतः बर्फ तो ठोस होने से घना होना चाहिये, डूब जाना चाहिये, नीचे जाना चाहिये। बर्फ की पर्त ऊपर तैरती रहती है, क्यों? उन ठंडे मुल्कों के अन्दर यदि समुद्र में पानी ऐसा ही ठंडा होता जाता तो बर्फ भारी होने से नीचे जाती है और जितने मछली इत्यादि जलचर प्राणी हैं वे सब उसके बोझ से मर जाते। अब चूँकि बर्फ हल्की है इसलिये समुद्र के ऊपर तैरती रहती है। और नीचे पानी तरल बना रहता है और मछलियाँ आनन्द से खेलती रहती हैं। यदि जैसा लोग समझते हैं, बिना विचार के बिना ज्ञान के सृष्टि हुई होती, जड प्रकृति से सृष्टि हो गयी होती तो

ऐसी विचार की चीज मिल सकती थी ? "तपसा चीयते ब्रह्म" यह सारी सृष्टि बड़े विचारपूर्वक बनाई गयी है। खुद जीव भी इस विचार से ही सब चीजों को बनाता है।

यह जो मन है वह केवल संकल्प ही हैं, और कुछ नहीं है। "तत्संकल्पात् न भिद्यते" संकल्प से भिन्न और कुछ नहीं है। यह मन, जैसा जैसा संकल्प करते चले जाते हो, वैसा-वैसा बनता चला जाता है। परन्तु संकल्प में दृढ सामर्थ्य चाहिये। इसीलिये कहा गया है "उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः"। मनोरथ ही तो संकल्प है। दरिद्राणां का मतलब धनहीनानाम् नहीं समझ लेना। जिनके अन्दर आत्मशक्ति का, संकल्प को दृढ बनाने का ज्ञान नहीं है, वही दरिद्र कहे जाते हैं, क्योंकि धन की उत्पत्ति से संकल्प तो हो जायेगा लेकिन संकल्प को प्रबल बनाने की सामर्थ्य धन नहीं दे सकता। इसीलिये प्राचीन भारतीय विद्या प्रणाली के अन्दर लोगों को धारणा, ध्यान, समाधि, संयम आदि का शिक्षण दिया जाता था जिससे उनकी संकल्पशक्ति दृढ होवे, जीवन में सफलता प्राप्त करें। आज तो केवल नौकरी का संकल्प रह गया है। इसलिये शिक्षणपद्धति का जब विचार होता है तब यही होता है क्या पढने से नौकरी मिलेगी, क्या पढ़ने से वृत्ति होगी, कमाई होगी। ढाई साल के बच्चे को आजकल नर्सरी में भर्ती कर दिया जाता है और जब तक पी.एच्. डी., डी. लिट्. करके निकले तब तक २५ साल का हो जाता है। इतनी लम्बी शिक्षा पद्धति के अन्दर संकल्पशक्ति दृढ करने वाले धारणा, ध्यान, समाधि का एक साल में एक घंटे का भी कोर्स नहीं हैं। जो असली चीज है, जिसकी शिक्षा होनी चाहिये, उसको छोड़ कर बाकी सारी चीजों की शिक्षा है। इसलिये कई बार हम हँसी में कहते हैं आजकल महाविद्यालय के अन्दर से एक अकार निकाल लेना चाहिये वे महाअविद्यालय है। उससे निकल कर बच्चों की संकल्पशक्ति दृढ नहीं होती और कमजोर हो जाती है। किसी भी चीज का धारणा, ध्यान करने का उनको अभ्यास जो बचपन में था, वह भी खत्म हो जाता है। इसलिये कहा "तपसा चीयते ब्रह्म"। यह जो विचारशक्ति, संकल्पशक्ति को दृढ करना है, यह तपस्या है। बाकी भी तप इसीलिये कहे जाते हैं कि किसी न किसी संकल्प को दृढ करने का साधन होते हैं। आज एकादशी है, मुझे भोजन नहीं करना है, कुछ संकल्प

दृढ होगा। माघ का महीना है, सर्दी पड़ रही है, मौनी अमावास्या है परन्तु गंगा-यमुना के संगम में गोता लगाना है। शरीर थर-थर काँप रहा है परन्तु गोता लगाना है। जितनी ये तपस्याएँ हैं, ये सब संकल्पशक्ति को दृढ करने के साधन हैं। वास्तविक तपस्या इस संकल्पशक्ति की दृढता, विचारशक्ति की प्रधानता ही है। जब संकल्पशक्ति दृढ हो जाती है तो "अन्नम् अभिजायते"। आचार्य शंकर कहते हैं—

"अन्नम् अद्यते भुज्यते इति अन्नमव्याकृतं साधारणं कारणं संसारिणाम्।"

अन्न का मतलब खाली चावल, गेहूं नहीं समझ लेना। यह तो हम ही लोग पैदा कर लेते हैं। इसके लिये ब्रह्म को थोड़े ही तपस्या करनी पड़ती है। जो कुछ भी अव्यक्त है, जिससे यह सारी चीजें पैदा होती हैं, उस अव्यक्त का पहले उद्भव होता है। "व्याचिकीर्षितावस्थारूपेणाभिजायत उत्पद्यते"। शंका होती है कि अव्यक्त तो महाप्रलय में भी था, विचार करने की क्या जरूरत थी? तो जैसे कुम्हार घड़ा बनाना जानता है, घड़ा बनाने की सारी प्रक्रिया तो उसके मन में है। परन्तु जिस दिन घड़ा बनाना होता है उस दिन व्याचिकीर्षा— ऐसे-ऐसे बनाऊँगा यों विचार करता है, ऐसे ही परमेश्वर का विचार है। क्योंकि सृष्टि है क्रमबद्ध। नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति होती है। यही सृष्टि की विशेषता है। सृष्टि ऐसे नहीं होती है जैसे हाथ में बेर होवें और तुम उसे फेंक दो जमीन के ऊपर तो इकट्ठे प्रकट हो जाते हैं। ऐसे सृष्टि नहीं होती। इसमें तो नियत कारण कार्यता है। बीज से पहले मूल ही निकलेगा। अंकुर ही निकलेगा, उससे तना ही निकलेगा, उससे टहनी ही निकलेगी, उससे पत्ता ही निकलेगा। क्रम से सृष्टि होती है। यह जो क्रम से होना है, यही है व्याचिकीर्षा को मानने में युक्ति। इसका व्याकरण इसको व्यक्त करने की, प्रकट करने की जो इच्छा है, किस क्रम से प्रकट किया जाये, वही व्याचिकीर्षा है। उस अन्न से फिर प्राण, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति ये सारी चीजें उत्पन्न होती हैं। जब ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति प्रकट हो गई तब 'सत्यम्'। ये जो आकाशादि पंचमहाभूत हैं, जो हमको संसार दीख रहा है; सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर के सृष्टि के अन्त पर्यन्त ये आकाशादि सब ऐसे ही रहते है। इनको तुम इधर-उधर तो कर सकते हो। यहाँ मिट्टी में, जमीन में गड्ढा खोदो और इधर ऊपर उस मिट्टी को चढ़ा दो। बड़े खुश होकर कहते हो मैने बीस तल्ले का मकान बना लिया। कुछ बनाया

थोड़े ही है तुमने। कहीं की मिट्टी थी, कहीं का चूना था, कहीं की लकड़ी थी, कहीं का लोहा था। वहाँ-वहाँ से निकाल कर यहाँ इकट्ठा कर लिया। बनाया क्या तुमने? कुछ नहीं। इधर की चीज उठा कर उधर रख दिया। इसीलिये कबीर दास ने कहा— "कंकड़ चुन-चुन महल बनाया।"

इधर से कंकड़ लिया, उधर से कंकड़ लिया और उसको मिला कर महल बना लिया। इसलिये जो तुमने किया वह सत्य नहीं है। थोड़े दिनों बाद फिर गिर जाता है, वैसा का वैसा हो जाता है। लेकिन परमात्मा ने जो आकाश पृथिव्यादि सृष्ट किये हैं, वे तो प्रलय पर्यन्त बने रहेंगे। इसीलिये उनको कह दिया 'सत्यम्'। उन्हीं पंचमहाभूतों से फिर क्रम से "लोकाः भूरादय" सात ऊपर के लोक, सात नीचे के लोक ये सारे बन गये।

'तेषु मनुष्यदिप्राणिवर्णाश्रमक्रमेण कर्माणि' उनके अन्दर फिर मनुष्य आदि प्राणी बन गये और वह प्राणी हमेशा अपने कल्याण में लगे रहें इसीलिये उनके लिये वर्णधर्म और आश्रमधर्म बन गये जिनमें मनुष्य को पता होवे मेरा क्या कर्तव्य है। मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली चीज है कर्तव्यबोध। मनुष्य और पशु का मूलगत भेद यही है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि हरी-हरी घास को लेकर आते हुए को देखकर गाय उसकी तरफ जाती है, हाथ में डंडा लेकर लाल-लाल आँखे कर आते हुए आदमी को देख कर गाय पूँछ उठा कर भाग जाती है। जो चीज हमको प्रिय लगे उसकी तरफ चल देना, जो चीज अप्रिय लगे उससे भाग जाना यही तो पशु का लक्षण है। जो ऐसा करता है उसी का नाम पशु है। जो चीज हमको दुःख देने वाली लग रही है परन्तु हमारा कर्तव्य है, इसलिये हम करते है तभी हम मनुष्य हैं। जो चीज हमको सुख देने वाली लगती है उसको भी नहीं करते है क्योंकि उसको करना हमारा कर्तव्य नहीं है तभी पशु से विलक्षण हैं।

आज के समाज की विडम्बना यही है। हर एक का प्रश्न है — जो मैं करना चाहता हूँ, वह मैं क्यों नहीं कर सकता? यही प्रश्न घूम फिर के आता है, चाहे जिस रूप में आवे। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आगे चलकर लिखते हैं कि जिसका जिसके लिये विधान किया गया है, वही उसका धर्म है। किसी काम को अच्छी तरह से कर सकता है इतने मात्र से वह उसका धर्म नहीं हो

जाता। मोटी भाषा में बता देवें, बुरा नहीं मानना, पड़ोसी की पत्नी के साथ मेरा प्रेम ज्यादा निभ रहा है। अपनी पत्नी के साथ इतना नहीं निभ रहा है। प्रश्न होता है फिर मैं पड़ोसी की पत्नी के साथ ही क्यों न निर्वाह करूँ ? उसके साथ मैं बड़े प्रेम से रहूँगा, उसके साथ मेरा स्वभाव मिलता है। क्यों कहते हो कि ऐसा मत करो ? तो यही कहते हो, भाई जिसका हाथ पकड़ लिया उसको निभाना है, कर्तव्य है। इसी प्रकार जो कर्तव्य तुमको वर्ण-आश्रम से प्राप्त हुआ, वह तुमको प्रिय लगे या न लगे, उसको तुम अच्छी तरह से कर सको या न कर सको। चूँकि वह कर्तव्य है इसलिये करना है, यही मनुष्य के अन्दर मनुष्यता है। पाकिस्तानी हमको अच्छा रुपया भी देने को तैयार है। पाकिस्तान भी एक देश ही है। इसलिये पाकिस्तान की सेवा भी देशसेवा ही है। वह रुपये भी दे रहा है। मैं यहाँ के फौज के रहस्य को उसको बतला देता हूँ। देशसेवा ही तो कर रहा हूँ। पाकिस्तान देश की सेवा कर रहा हूँ। जँच रहा है तुम लोगों को किसी को ? तुम हिन्दुस्तान में पैदा हो गये। हिन्दुस्तान की सरकार तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई की कोई कीमत नहीं कर रही है। एक वैज्ञानिक के बारे में पता ही है आप लोगों को। अमेरिका चला गया। लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं कि वह इतना बड़ा नोबल पुरस्कार प्राप्त करने वाला हुआ। सब ठीक है लेकिन कर्तव्य की मर्यादा जानने वाला तो कहेगा, चाहे हमारा देश हमको धन देवे या अपमान देवे, चाहे हमारा देश हमारे साथ कितना ही बुरा व्यवहार क्यों न करे लेकिन हम यहाँ उत्पन्न हुए हैं। इसलिये हमारा कर्तव्य तो इस देश की उन्नति ही है। कोई देश हमको सुविधा देता है इतने मात्र से हम वहाँ चले जाये तो यह कर्तव्य नहीं हुआ। यह तो पशु का व्यवहार हुआ। इसलिए परमेश्वर ने कर्तव्यबुद्धि मनुष्य को ही दी है। यही मनुष्य को मनुष्यता देती है।

" *कर्मसु च निमित्तभूतेषु अमृतं कर्मजं फलम्।*"

जो आदमी इस प्रकार से यावत् जीवन अपने कर्तव्य का विचार करता है— मुझे किस चीज से प्रियता का अनुभव होगा। कौन-सी चीज मुझे सुख देगी इसका विचार नहीं करता। हर परिस्थिति में सोचता है मेरा कर्तव्य क्या है, मेरे ऊपर भगवान् ने क्या बोझा दिया है तब वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। "यावत् कर्माणि कल्पकोटि शतैरपि न विनश्यन्ति तावत् फलं न विनश्यति इति अमृतम्।"

आचार्य शंकर कहते हैं करोड़ों कल्पों के अन्दर भी जो इस प्रकार के कर्म का व्यवहार करता है उसका कर्म उसको सुख देता है। इसलिये सापेक्ष अमरता इसी को कहा जाता है। इन सब चीजों को परमेश्वर ने उत्पन्न किया। वह परमेश्वर कैसा है

यः सर्वज्ञः सर्वविधस्य ज्ञानमयं तपः।

तस्मादेव ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥

वह सर्वज्ञ है और सर्वविद् है। शंका होती है कि उसने मुझे जो कर्तव्य दिया वह लगता है बिना सोचे समझे दिया है। इसीलिये तो मैं हिन्दुस्तान छोड़ कर अमेरिका जाता हूँ। मेरे जैसी बुद्धिवाला वैज्ञानिक, ज्ञानवाला ऐसे गये-बीते देश में उत्पन्न कर दिया। लगता है परमेश्वर ठीक-ठीक मेरी योग्यता को नहीं जानता था। मुझे कहाँ उत्पन्न करना चाहिये यह वह समझ नहीं पाया। कई बार लोग बात करते है, विदेश जाना चाहिये। अगर विदेश ही जाना हमारे लिये अपेक्षित होता तो भगवान हमको वहाँ उत्पन्न कर देते? वह सर्वज्ञ है, सर्वविद् है उसके उस ज्ञान में कहीं कमी नहीं है। यह निश्चय जिसको होगा वह तो जानेगा कि मेरा कर्तव्य जो उसने निश्चित् किया उसमें कहीं संदेह की जगह नहीं है। मेरा विवाह उस पति से हो गया। उस परमात्मा ने मेरे लिये इस व्यक्ति को चुन दिया। यही मेरा पति है। वह सर्वज्ञ सर्ववेत्ता है यह निश्चय वाली तो पतिव्रत्य धर्म निभा सकती है। अन्यथा तलाक बिल पास हो ही चुका है। देखते रहो, जो-जो अच्छी मिलती जाय उसे ग्रहण करो, पुरानी-पुरानी को छोड़ते जाओ। क्योंकि कहा क्या जाता है? 'न निभे तों क्या करें?' न निभे तो क्या करो, पशु बनो यह उनका कहना है। हम लोग कहेंगे कि भाई बने न बने इसको तो वह सर्वज्ञ सर्वविद् जानता है। 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः'। ज्ञान ही उसका तप है। अन्यथा इस हिस्से-बाँट का कोई निर्णय नहीं होता।

तुम कोई भी कर्म करो, किसी भी कर्म को तुम देखो, तो संस्कार तुम्हारी प्रवृत्ति कराते हैं, वातावरण तुम्हारी प्रवृत्ति कराते हैं, तुम स्वयं भी चीजों में प्रवृत्त होते हो। कभी शान्ति से सोच कर निर्णय कर सकते हो कि कहाँ संस्कार ने प्रवृत्ति कराई, कहाँ वातावरण ने प्रवृत्ति कराई, कहाँ तुमने खुद प्रवृत्ति

की? क्योंकि तीनों मिले हुए हैं। जब प्रवृत्ति करते हैं तो सारे कारण इकट्ठे हैं। किसी भी परिस्थिति में कैसे, कहाँ, किसने करवाया, इसका निर्णय कठिन है। बहुत साल पहले हमने एक सम्पादकीय पढ़ा। उसमें उन्होंने कहा कि आजकल के बच्चे इसलिये बिगड़ रहे हैं कि माता-पिता उनको देखते नहीं। कुछ समय बाद संपादक हमारे पास आये, कुछ महीनों बाद बातचीत हुई। हमने कहा भई आपने लेख बड़ा अच्छा लिखा है, बड़ी युक्तिपूर्ण बात थी। चूँकि माँ-बाप संभालते नहीं इसलिये लड़के बिगड़ जाते है। परन्तु एक बात बतलाओ, माँ बाप ऐसे क्यों बिगड़ गये जो लड़कों को नहीं संभालते। इसलिये उनके माँ-बाप कारण होगें। ये माँ-बाप नहीं सँभालते यह तो हमने मान लिया। लेकिन वह बाप नहीं संभालने वाला क्यों बना? इसका कहीं अन्त आना है? इसलिये सर्वत्र कारणता मिली-जुली होती है।

तीन आदमी थे। उनके पास एक-एक लाख रुपये की सम्पत्ति थी। तीनों ने मिलकर सोचा कि हम व्यापार करें। तो रुई का व्यापार करने की सोची। उस मुल्क में रुई होती थी। एक बड़ा भारी गोदाम बना लिया। रुई सस्ती होवे तो खरीद लेवें। महंगी होवे तो बेच देवें। अपना फायदा करते गये। एक बार वह रुई जरा ज्यादा दिन तक बिकी नहीं। कच्ची रुई के बिनौले होते है। उन बिनौलों को खाने के लिये चूहे आने लगे। अब वे चूहे बिनौले खाये और साथ में वह रुई खराब हो जाय। उन्होंने काफी प्रयत्न किया। पकड़ने के पिंजड़े-विंजड़े रखे लेकिन कुछ काम बना नहीं। अन्त में किसी ने राय दी कि एक बिल्ली पाल लो। एक बिल्ली पाल ली। अब बिल्ली इधर उधर चूहों को पकड़े, दौड़ा करे तो कभी उसको चोट लग जाये। तो कोई संभाले कोई न संभाले। साझे का काम था।

तीनों ने निर्णय किया कि बिल्ली के हिस्से बाँट लिये जाये। जिस हिस्से में चोट लगे उस हिस्से का मालिक उसकी तीमारदारी करे। बिल्ली को बाँट लिया गया। अगला हिस्सा तुम्हारा, पैर उसके, पिछला हिस्सा इसका। चलता रहा जिसके हिस्से में चोट लगे तो वह उसको ठीक करें। एक बार बिल्ली की टाँग में बड़ी जोर की चोट आ गयी तो जो उसके हिस्से वाला था उसने उसका इलाज किया। वह पट्टी बाँधे पर पैर के हिलने डुलने से पट्टी खुल जाये। तो किसी ने सलाह दी कि नीम के तेल से भिगोकर इसको बाँध

दो। तेल होगा तो पट्टी जल्दी खुलेगी भी नहीं, बँधी भी रहेगी और तेल के फायदे से ठीक भी हो जायेगी। तो उसने वैसा ही किया। अब बिल्ली तो बिल्ली ही ठहरी। रात के समय चूहों को पकड़ने के लिये लँगड़ाती इधर-उधर आ-जा रही थी। वहाँ एक जगह दिया जल रहा था। पट्टी थोड़ी ढीली थी। वह दिये के पास से निकली तो उसमें आग लग गई। अब जो बिल्ली जलने लगी तो घबड़ा कर उसी रुई के अन्दर घुसी। वह जिधर घुसे उधर ही आग लग जाये। सारी रुई जल गई। उस जमाने में दमकल वगैरा तो थी नहीं। वो लोग आये उन्होंने पानी-वानी डाला लेकिन आग इतनी लग गई थी कि सारी रुई खतम हो गयी।

अब जिसके हिस्से वाली वह टाँगें थी उसके ऊपर दूसरे दोनों— दोष दिया 'तेरी टांग से आग लगी। इसलिये तू हमारा रुपया भर।' अब वह बिचारा घबराया। बोला, 'भाई अब हम इसमें क्या करें?' उन्होंने कहा, 'नहीं तुम्हारे हिस्से वाली ने किया है।' उसने दिया नहीं । जो भी उस व्यापार मंडल का प्रधान था, पहले पंच हुआ करते थे, उसके पास वे लोग गये। बोले 'इसके हिस्से ने आग लगाई और अब रुपया नहीं देता।' वह तो समझदार आदमी था। उसने कहा 'भाई सच्ची बात तो यह है कि इसकी टाँग से तो आग लगी नहीं। इसके हिस्से वाली टांग तो टूटी हुई थी उससे तो वह दिये का पास जा नहीं सकती थी और न वह रूई में घुस सकती थी। उसको तो चोट लगी हुई थी। इसलिए जो ठीक वाली टांगे थी उन्हीं ने आग लगाई। और उन्हीं ने सारा माल खराब कर दिया। इसलिये उसका कसूर नहीं है। इनका कसूर ही सिद्ध होता है।' फिर आगे कहा 'पर सच्ची बात यह है कि बिल्ली एक थी। तुमने उसमें काल्पनिक टुकड़े कर रखे थे। सच्चे टुकड़े तो थे नहीं, काल्पनिक टुकड़े थे। इसलिए वस्तुतः तुम सबका अपना-अपना नुकसान हुआ है। किसी को कुछ लेना देना बनता नहीं।'

इसी प्रकार हमारे संस्कार, हम खुद, हमारा वातावरण सब है तो एक अभिन्न ही न। ठीक उसी वातावरण में दो लड़के बड़े होते हैं। एक का स्वभाव शान्त, दूसरे का स्वभाव क्रोधी। माँ-बाप भी एक, भाई-बहन भी एक, मकान भी एक, सभी एक। इसलिये जहाँ पर भी देखोगे वहाँ तो एक ही है। उसमें केवल हम कल्पना कर भेद कर लेते हैं।

इस प्रकार की अभेद दृष्टि होने पर "तस्माद् एतद् ब्रह्म नामरूपन्नं च जायते।" उस परब्रह्म परमात्मा से ही ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति वाला हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्म सब पदार्थों के रूप — यह हरा है, लाल है इत्यादि और उनके जितने भोग्यजात है, वे सारे उससे ही उत्पन्न होते है। हम उनके अन्दर इन भेदों की कल्पनाओं को कर लेते हैं। वस्तुतः तो वह एक अखण्ड ही बना रहता है।

इस उपनिषद् को प्रारम्भ करते हुए बतलाया था कि किस प्रकार का अधिकारी व्यक्ति इसमें प्रवृत्त होवे, किस प्रकार के अधिकार की अपेक्षा है। फिर यह बतलाया कि प्राप्ति के लिये किस प्रकार से गुरुपरम्परा की आवश्यकता है। फिर उसके बाद बतलाया कि पराविद्या और अपरा दो विद्याएँ हैं। धर्म को बताने वाला जो वेद का वाच्यार्थ वह अपराविद्या, अधिष्ठान परमात्मा को बतलाने वाले उसी वेद का जो लक्ष्यार्थ वह पराविद्या "परा यया तद-क्षरमधिगम्यते"। इसलिये पराविद्या किसी शब्द का नाम नहीं है। उस परब्रह्म परमात्मतत्व का जो साक्षात्कार है, जो अपरोक्ष अनुभव है, उसी को पराविद्या कह रहे हैं। उसकी सहायता करने वाले जो वेद और वेदाङ्ग हैं, वे सारे के सारे अपराविद्या हैं। केवल साक्षात्कार, जिसका कभी बोध नहीं होता, वही पराविद्या है। भाष्यकारों ने स्पष्ट किया कि यहाँ उपनिषद् की अक्षर राशि विवक्षित नहीं है क्योंकि उपनिषद् की अक्षरराशि, शब्दराशि तो अपराविद्या में आ जाती है। फिर पराविद्या जिसको विषय करती है उसको बतलाया और उसी ब्रह्म का फिर विस्तृत वर्णन किया कि सारी सृष्टि का एकमात्र वही कारण है। उस का कोई कारण नहीं। उसका तो स्वभाव है जगत् रूप में अज्ञान के द्वारा दीखना। उस दीखने के अन्दर क्रम है, क्योंकि विचारपूर्वक सृष्टि है। यह आज बतलाया तो इस प्रकार से प्रथम खण्ड के विचार को किया।

आप सब को यही आशीर्वाद है कि यह जो पराविद्या "यया तद् अक्षरम् अधिगम्यते" जिससे उस अक्षर की प्राप्ति होती है, उस परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, उसकी प्राप्ति कर आप लोग कृतार्थ होवें। यही भगवान् से प्रार्थना है और यही आशीर्वाद है।